

एम.ए. (संस्कृत) पूर्वाद्ध
चतुर्थ प्रश्न-पत्र

भाषा विज्ञान तथा शास्त्रीय साहित्य का इतिहास



लेखक : डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

भाषा विज्ञान तथा शास्त्रीय साहित्य का इतिहास

इकाई	पाठ्यक्रम विवरण	पृष्ठ संख्या
इकाई-1	: सामान्य भाषाविज्ञान	1 - 65
इकाई-2	: सामान्य भाषाशास्त्र	66 - 114
इकाई-3	: ध्वनि एवं पद-विज्ञान	115 - 171
इकाई-4	: वाक्य विज्ञान एवं अर्थ विज्ञान	172 - 226
इकाई-5	: शास्त्रीय साहित्य का इतिहास	227 - 245

इकाई - 1

सामान्य भाषाविज्ञान

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 भाषा : एक परिचय

1.2.0 भाषा की परिभाषा

1.2.1 भाषा के विभिन्न रूप

1.3 भाषा विज्ञान : एक परिचय

1.3.0 भाषा विज्ञान के क्षेत्र

1.3.1 भाषा विज्ञान के अंग

1.3.2 भाषा विज्ञान की शाखाएं

1.3.3 भाषा विज्ञान की उपयोगिता

1.3.4 भाषा विज्ञान और अन्य शास्त्र

1.4 भाषाओं का वर्गीकरण

1.4.0 विश्व भाषाओं का वर्गीकरण का आधार

1.4.1 भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

1.4.2 आकृतिमूलक वर्गीकरण की उपयोगिता

1.5 भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

1.5.0 भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार

1.5.1 भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता

1.6 भारतीय भाषाविद् - मुनित्रय

1.7 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य :

1. भाषा का अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान।

2. भाषा विज्ञान के स्वरूप और व्याप्ति को बता पाएंगे।
3. भाषा एवं भाषा विज्ञान का सम्बन्ध जानना।
4. भाषा विज्ञान एवं व्याकरण का सम्बन्ध जानना।
5. भाषा के माध्यम से ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय।
6. भाषा के वर्गीकरण के माध्यम से किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का परिचय।
7. विदेशी भाषाओं को सीखने में सहायता।
8. हमारे प्रमुख भाषाविदों का परिचय जानना।

1.1 प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों, भाषा विचारों को आदान-प्रदान करने का प्रमुख माध्यम है। जब हमें अपनी कोई इच्छा, जरूरत, भाव, विचार या बात दूसरे को बतानी होती है तो हम बोलकर उसे बताते हैं। बोलने को ही भाषा कहा जाता है। भाषा शब्द संस्कृत के 'भाष्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- व्यक्त वाणी। एक प्रकार से इस धातु के अर्थ में ही भाषा का लक्षण विद्यमान है। व्यक्त वाणी का अर्थ है- स्पष्ट व पूर्ण अभिव्यंजना और वह उच्चरित या वाचिक भाषा से ही संभव है। जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थों के बोधक अनन्त ध्वनि संकेत है। इसलिए भाषा मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। भाषा एक ऐसा साधन है, जो मूक और मुखर दोनों होता है।

1. मूक- मूक भाषा के रूप में इसके दो प्रकार बनते हैं- इंगित (Gesture) व संकेत (Sign-Signal)। इंगित के अंतर्गत सभी प्रकार की आंगिक चेष्टाएँ आती हैं। आंगिक चेष्टाओं द्वारा घृणा, प्रेम, क्रोध, प्रसन्नता, सहमति, असहमति, आदि को प्रकट किया जाता है। संकेत और प्रतीकों के प्रयोग से भाव को दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। जैसे- सिग्नल की हरी-पीली, लाल बत्तियाँ, स्काऊट, नाविक, सैनिकों के द्वारा तरह तरह के झंडों का प्रयोग, नारियल देने आदि का प्रयोग संकेत के अंतर्गत आता है।

2. मुखर- मुखर भाषिक साधन के अंतर्गत मुँह से उच्चारित ध्वनियुक्त साधन आते हैं। मानव और मानवेतर ये दो इस साधन के प्रयोक्ता होते हैं। इसे 'वाक्' की संज्ञा प्राप्त है, जो दो अंगों में बाँटा जाता है (क) अव्यक्त और (ख) व्यक्त

(क) अव्यक्त वाक्- इसके अंतर्गत मनुष्येतर प्राणी की ध्वनियों का समावेश होता है। ये जीव-जंतु अपने भावों को विभिन्न ध्वनियों द्वारा दूसरों तक पहुँचाते हैं। परंतु हमारी समझ में ये ध्वनियाँ नहीं आती। इनका विश्लेषण करना भी हमारे लिए संभव नहीं होता। इसलिए इन्हें अव्यक्त वाक् कहा है।

(ख) व्यक्त वाक्- मनुष्य की ध्वनियों में स्पष्टता, निश्चितता, पूर्णता होने से विवेचन विश्लेषण, अध्ययन करना संभव है। इसलिए इसे व्यक्त वाक् कहा है। भाषाविज्ञान में इसी भाषा का अध्ययन होता है।

आषा के कारण ही मनुष्य इस संसार में सर्वोत्तम प्राणी माना गया है। आज मनुष्य ने भाषा के कारण ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। मनुष्य केवल भाषा के कारण ही जड़-चेतन जगत् का स्वामी हुआ है।

भाषा विज्ञान के माध्यम से हम भाषा के जन्म से लेकर उसके क्रमिक विकास पर विशद् चर्चा करने के साथ साथ उसके विशुद्ध प्रयोग पर भी चर्चा करते हैं।

1.2 भाषा : एक परिचय :

भाषा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में प्रचलित है। भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों को सामान्य रूप से भाषा कह दिया जाता है। इस प्रकार के अर्थों में पशु-पक्षियों की बोली, इंगित, विभिन्न संकेत और मानव की भाषा को 'भाषा' शब्द के द्वारा ग्रहण किया जाता है। भाषा को हम निम्नलिखित रूपों में समझ सकते हैं-

(क) पशु-पक्षी आदि की बोली- पशु-पक्षियों की बोली के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे- कुत्तों की भाषा, बन्दरों की भाषा, पक्षियों की भाषा। गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में कहा है- 'समुझइ खग खग ही कै भाषा।' (उत्तरकाण्ड, 62/6) इसमें खग की बोली को भाषा कहा है। पशु-पक्षी विभिन्न संकेतों से अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं।

(ख) इंगित- इंगित को भी भाषा कहा जाता है। हाथ, आँख, सिर आदि के हिलाने आदि के द्वारा विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति की जाती है। सिर सामने नीचा करने से 'हाँ' का अर्थ और दायें-बायें हिलाने से 'नहीं' का अर्थ सूचित किया जाता है। इसी प्रकार आँखों के इशारे से चलने आदि का संकेत होता है। इस प्रकार आंगिक संचालन या इंगित को भी भाषा कह दिया जाता है।

(ग) संकेत- चिह्न या सांकेतिक भाषा स्काउट, सैनिक और नाविक आदि झण्डे की सहायता से दूरस्थ अपने साथियों को विभिन्न संकेत भेजते हैं। गार्ड को लाल और हरी झण्डी, रेलवे लाइन पर लगे लाल और हरे सिग्नल, बड़े नगरों में चौराहे पर लगी लाल, हरी और पीली बत्तियाँ 'रुकना' और 'जाना' अर्थों को प्रकट करती हैं। तार और वायरलेस की भाषा भी सांकेतिक है। इस प्रकार के संकेतों को भी तार की भाषा आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

(घ) मानवीय व्यक्त भाषा- मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिस व्यक्त वाणी का उपयोग करता है, उसे भाषा कहते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त प्रथम तीन भेद अपूर्ण और अस्पष्ट हैं। उनके द्वारा गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है।

भाषा-विज्ञान में जिस भाषा का ग्रहण है, वह सांकेतिक आदि से भिन्न मानवीय व्यक्त वाणी है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से इस अर्थ की पुष्टि होती है। भाषा शब्द संस्कृत की भाष् (भ्वादिगणी) धातु से बना है। भाष् धातु का अर्थ है-(भाष व्यक्तायां वाचि) व्यक्त वाणी। 'भाष्यते व्यक्तवाग् रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा', अर्थात् व्यक्त वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है, उसे 'भाषा' कहते हैं। वस्तुतः प्रथम तीन अर्थों में भाषा शब्द का प्रयोग गौण रूप में होता है। मुख्य रूप में भाषा शब्द से मानवीय व्यक्त वाणी का ही ग्रहण होता है, क्योंकि इस व्यक्त भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावों को प्रकट किया जा सकता है।

1.2.0 भाषा की परिभाषा :

स्फुटवाक्करणोपात्तो, भावाभिव्यक्तिसाधकः ।

संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषेत्युच्यतेबुधैः ।।

भाषा की परिभाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अभी तक सर्वसम्मत भाषा का कोई लक्षण नहीं है। संघटनात्मक दृष्टि से भाषा शास्त्रियों ने भाषा की परिभाषा की है कि-

‘भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।’

इस परिभाषा में चार बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है-1. भाषा एक पद्धति है, 2. भाषा संकेतात्मक है, 3. भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है, 4. भाषा यादृच्छिक संकेत है। इन चार विशेषताओं का विवरण समझ लेना उचित है-

1. भाषा एक पद्धति है- भाषा एक सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित योजना या संघटना है, जिसमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि व्यवस्थित रूप से आ सकते हैं। सुव्यवस्थित पद्धति होने के कारण पद-रचना और वाक्य-रचना के विभिन्न नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। किन शब्द-रूपों में तृतीया एकवचन में न् का ण् होगा, किन में नहीं। किन शब्दों में तृतीया एकवचन में आ लगेगा, कहाँ ना लगेगा। इस व्यवस्था का ही फल है कि किसी भी भाषा का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया जाता है और विभिन्न नियम बनाये जाते हैं।

2. भाषा संकेतात्मक है- प्रत्येक भाषा में जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, उनका किसी वस्तु या क्रिया या कार्य से सम्बन्ध होता है। ये ध्वनियाँ प्रतीकात्मक होती हैं। इनका किसी विशेष वस्तु या क्रिया से मौलिक सम्बन्ध नहीं है। कोई भी ध्वनि किसी भाषा में किसी एक वस्तु का बोध कराती है और वही ध्वनि दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ को बताती है। इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए कि भाषा की ध्वनियाँ केवल संकेतात्मक या प्रतीकात्मक हैं।

3. भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है- मनुष्य अपनी वागिन्द्रिय की सहायता से जिन संकेतों का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अन्तर्गत आते हैं। अन्य प्रकार के संकेत इंगित आदि, लाल-पीली झण्डियाँ आदि, तार और वायरलेस के विभिन्न संकेत भाषा के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इसी प्रकार शंखनाद, भेरीनाद या बिगुल ध्वनि आदि के संकेत, जो विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किये जाते हैं, भाषा के अन्तर्गत

नहीं आते हैं। तार के संकेतों आदि की विभिन्न विशेषताएँ हैं और उनके द्वारा बहुत सूक्ष्म कार्य किया जाता है, तथापि उनकी तुलना वाचिक ध्वनि-संकेतों से नहीं की जा सकती है। वाचिक ध्वनि-संकेत सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूर्त और अमूर्त, दृश्य-अदृश्य, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय, सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया समर्थ हैं। इन ध्वनियों की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। जिस प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है और इसके आधार पर ही 'ध्वनि-विज्ञान' नाम की एक शाखा प्रचलित है।

लिपि या लेखन पद्धति भी यद्यपि भाषा का कार्य करती है, परन्तु यह मूल ध्वनियों का केवल संकेतात्मक चित्रण है, अतः लिपि को गौण रूप से भाषा कहा जाता है। इसी आधार पर उच्चरित ध्वनियों को लिपिबद्ध किया जाता है और लिपिबद्ध का तात्त्विक रूप से उच्चारण करना सम्भव होता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि वागिन्द्रिय से उत्पन्न सभी ध्वनियाँ सार्थक नहीं हैं और न उनका भाषा में ग्रहण ही होता है। जैसे- छींकना, खाँसना, गुराँना, थूकना, चिल्लाना आदि। इनका भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है और न इनका विवेचन ही किया जाता है।

4. भाषा यादृच्छिक संकेत है- विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भाषा में जिन ध्वनि संकेतों का उपयोग किया जाता है, वे पूर्णतया यादृच्छिक (ऐच्छिक) हैं। किसी भी विशेष ध्वनि का किसी विशेष अर्थ से मौलिक या दार्शनिक सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक भाषा में किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक मान लिया जाता है और वह परम्परा के अनुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा में अन्य शब्द उस अर्थ का बोध कराता है।

यदि हम बालक की भाषा शिक्षण-पद्धति को ध्यान में रख कर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि बालक अपने माता-पिता एवं सम्बन्धियों के द्वारा उच्चरित ध्वनि-संकेतों का अनुकरण करता है। वे जिसे माता, पिता, भाई, बहिन, गाय, घोड़ा कहते हैं, वह भी उसी प्रकार उन्हें उन नामों से पुकारता है। गाय को गाय और घोड़े को घोड़ा क्यों कहते हैं, इसका विवेचन नहीं करता। इस प्रकार एक समाज में कुछ विशिष्ट शब्द प्रचलित होते हैं, और वह समाज उन विशेष अर्थों को ग्रहण करता है। दूसरे समाज में पला हुआ व्यक्ति उन्हीं अर्थों को व्यक्त करने के लिए पूर्णतया भिन्न

शब्दों का प्रयोग करता है। जैसे- अंग्रेजी परिवार में पला हुआ बालक उपर्युक्त अर्थों को व्यक्त करने के लिए बचपन से ही मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर, काउ, हॉर्स आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि भाषाओं में इन अर्थों के लिए अलग-अलग शब्द हैं। यदि किसी विशेष अर्थ के लिए किसी विशेष ध्वनि का ही नियंत्रण होता तो यह परिवर्तन सम्भव न होता। इससे स्पष्ट है कि भाषा में प्रयुक्त सभी संकेत यादृच्छिक हैं। जिस भाषा में जिस अर्थ के लिए जो संकेत स्वीकृत है, वही अर्थ उस भाषा में लिया जाता है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि यह संकेत पूर्णतया यादृच्छिक नहीं है। प्रत्येक भाषा में यह संकेत रूढ़ हो गये हैं। उस भाषा में व्यक्ति विशेष अपनी इच्छानुसार नये ध्वनि-संकेत का किसी विशेष अर्थ में प्रयोग तक तब नहीं कर सकता है, जब तक उसको सामाजिक स्वीकृति प्राप्त न हो गई हो। अतएव संस्कृत में संकेत के लिए 'समय' शब्द का प्रचलन है, जिसका अर्थ है- सामाजिक स्वीकृति। यदृच्छा के साथ में यह सामाजिक स्वीकृति अनिवार्य अंग है।

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि भाषा एक व्यवस्थित पद्धति है। इसमें संकेतों के आधार पर अपने भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। ये संकेत वागिन्द्रिय द्वारा जन्य हो होने चाहिए और इस संकेतों का आधार यदृच्छा या मानवीय कल्पना हो। भाषा के इस मौलिक स्वरूप को समझ लेने से उनकी भ्रान्त धारणाओं और अंध-विश्वासों का समूल उन्मूलन हो जाता है।

1.2.1 भाषा के विभिन्न रूप :

भाषा वह इकाई है, जिसका सम्बन्ध मानव-जाति के सबसे छोटे अवयव व्यक्ति से लेकर विश्वमानव की समष्टि तक है। संसार का एकान्त में पड़ा हुआ भी व्यक्ति किसी भाषा का प्रयोग करता है और एक विश्व-विख्यात व्यक्ति भी किसी विशेष भाषा का प्रयोग करता है। काल-भेद, स्थान भेद, देश-भेद, स्तर-भेद आदि के आधार पर भाषाओं को अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। भाषा की अनेकरूपता के चार आधार माने गये हैं-

1. इतिहास,
2. भूगोल,
3. प्रयोग और
4. निर्माता।

1. **इतिहास के आधार पर भेद**— सर्वप्रथम वैदिक संस्कृत, उसके बाद साहित्यिक संस्कृत, फिर पालि, तत्पश्चात् प्राकृत और उससे अपभ्रंश, फिर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। संस्कृत से वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं तक के इस भेद का आधार ऐतिहासिक है। काल-क्रम से भाषा में भेद आता है और उस भेद के आधार पर भाषा में परिवर्तन और रूपान्तरण होता है। विश्व की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार का परिवर्तन प्राप्त होता है। इस परिवर्तन का कारण काल-भेद या इतिहास है।

2. **भूगोल के आधार पर भेद**— भौगोलिक आधार पर भाषा के जो अनेक रूप हो जाते हैं, उसके आधार पर उसके पृथक् नाम रखे जाते हैं। अपभ्रंश से विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाएँ निकली हैं और भौगोलिक या प्रान्तीय आधार पर उनके अनेक रूप हो गये हैं। जैसे— हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, भोजपुरी, बिहारी, उड़िया, बंगाली आदि। इसका क्षेत्र बोली से अधिक विस्तृत होता है। यह प्रायः प्रदेश या प्रान्तीय स्तर की भाषा होती है।

3. **प्रयोग के आधार पर भेद**— प्रयोक्ता कौन है? इस आधार पर भाषा के अनेक रूप होते हैं। प्रयोक्ता किस वर्ग, जाति, धर्म आदि से सम्बद्ध है, तदनुसार भाषा के अनेक रूप हो जाते हैं। जैसे— साहित्यिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, शुद्ध भाषा, अशुद्ध भाषा, ग्रामीण बोली आदि। प्रयोग के आधार पर जो भाषा का भेद किया जा सकता है, उसके तीन आधार माने जाते हैं—1. प्रयोग का क्षेत्र, 2. साधुत्व (भाषा साधु है या असाधु), 3. प्रचलन (भाषा प्रचलित है, जीवित है या मृत)।

4. **निर्माता के आधार पर भेद**— भाषा का निर्माता कौन है? उसका क्या स्तर है? इस आधार पर भी अनेक रूप होते हैं। यदि किसी भाषा का निर्माता समाज या देश है तो उस भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है। वह परम्परागत रूप से प्रचलित रहती है। समाज की स्वीकृति के कारण वह भाषा का स्थान लेती है। इसके विपरीत यदि भाषा का सम्बन्ध व्यक्तिविशेष से है या छोटे वर्ग से है तो वह कृत्रिम भाषा या बोली का स्थान ले पाती है।

भाषा के अन्य कई गौण आधारों पर भी भेद किये जा सकते हैं। जैसे— संस्कृति, ग्राह्यता, सुबोधता, मिश्रण आदि के आधार पर अनेक भेद, उपभेद सम्भव हैं। परन्तु इस आधार पर किये गये भेदों का अध्ययन प्रचलित नहीं है।

भाषा की अनेकरूपता को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। मूल-भाषा, परिनिष्ठित या परिष्कृत भाषा, विभाषा, बोली, व्यक्तिगत बोली, अपभाषा, विशिष्ट भाषा, कूट-भाषा, कृत्रिम भाषा एवं मिश्रित।

1. मूल-भाषा- कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विश्व की प्रत्येक भाषा का आधार कोई न कोई मूल भाषा मानी गई है। कुछ अंशों तक यह मूल-भाषा काल्पनिक है। जैसे- इण्डोयूरोपियन या भारोपीय मूल भाषा की कल्पना। इसका आधार यह माना गया है कि भारत और यूरोप के व्यक्ति मूल रूप में किसी एक स्थान पर रहते थे। धीरे-धीरे वे भौगोलिक या आर्थिक आदि कारणों से इधर-उधर बिखरे। उनकी मूल-भाषा इस विस्तार के साथ ही अनेक रूपों में आयी। एक ओर इसका भारतीय संस्कृत वाला रूप प्रकट हुआ, दूसरी ओर ग्रीक और लैटिन से सम्बद्ध पाश्चात्य रूप निखरा। इसमें अंग्रेजी भी आती है। आर्य-धारा का ही एक अंग अवेस्ता, पहवी, फारसी आदि के रूप में विकसित हुआ। तुलनात्मक अध्ययन पर यह मूल-भाषा स्वीकृत की गई है। परन्तु इसका कोई ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार अन्य भाषा-परिवारों की भी मूल-भाषा मानी गई है।

2. परिनिष्ठित या परिष्कृत भाषा- इसे स्तरीय भाषा, स्टैण्डर्ड भाषा (Standard Language), आदर्श भाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। यह भाषा का आदर्श रूप होता है। साहित्यिक रचनाएँ इसी में होती हैं। शासन, शिक्षा एवं शिक्षित वर्ग में इसका ही प्रयोग होता है। यह भाषा व्याकरण की दृष्टि से परिष्कृत होती है। भाषा का व्याकरण इसी को आधार मानकर बनाया जाता है। अनेक समान भाषाओं में से विशिष्ट समाज या जनसाधारण में अधिक प्रचलन के आधार पर किसी एक भाषा को आदर्श भाषा मान लिया जाता है। शिक्षित वर्ग इसी का प्रयोग करता है। यह भाषा राजकीय स्तर पर स्वीकृत होने से आदर्श भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी और चीनी आदि भाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। आदर्श भाषा के प्रान्तीय या प्रादेशिक रूप भी विभिन्न हो जाते हैं। इसके मौखिक और लिखित दो रूप होते हैं। 'मौखिक' में छोटे, सरल और सुबोध वाक्यों का प्रयोग होता है। 'लिखित' में बड़े और कठिन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। लिखित रूप में कृत्रिमता की मात्रा अधिक पायी जाती है।

3. विभाषा (Dialect)– परिनिष्ठित या आदर्श भाषा के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ होती हैं। विभाषाएँ प्रायः स्थानीय भेद के आधार पर होती हैं। भौगोलिक आधार पर एक भाषा की अनेक विभाषाएँ हो जाती हैं। इसी आधार पर आदर्श-हिन्दी भाषा की अनेक विभाषाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे- राजस्थानी आदि। प्रान्तीय या उपप्रान्तीय आधार पर स्वीकृत भाषाओं को विभाषा की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे- पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, असमी आदि।

4. बोली (Sub-Dialect)– कतिपय विद्वानों ने विभाषा और बोली शब्द को समानार्थक माना है और उसे डाएलेक्ट (Dialect) का अनुवाद कहा है। विभाषा और बोली में आपेक्षिक अन्तर है। जो भाषाएँ प्रान्तीय स्तर पर शासन द्वारा स्वीकृत हो जाती हैं और जिनमें प्रान्तीय शासन का कार्य प्रचलित होता है, उनका स्तर उच्च हो जाता है और वे विभाषा की श्रेणी में आती हैं। इसके अतिरिक्त जो भाषाएँ प्रान्तीय स्तर पर स्वीकृत न होकर मण्डलीय स्तर पर स्वीकृत रहती हैं तथा जिनमें साहित्यिक रचनाएँ भी विद्यमान रहती हैं, उन भाषाओं को बोली की श्रेणी में लिया जाना उचित है। जैसे-हिन्दी की बोलियाँ- ब्रज, अवधी, कुमायूनी, बुन्देली, भोजपुरी आदि। इनके भी स्थानीय छोटे भेद होते हैं। ये भेद जिला आदि के स्तर पर होते हैं। इन्हें उपबोली कह सकते हैं।

5. व्यक्तिगत बोली (Idiolect)– यह भाषा की सबसे छोटी इकाई है। एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्तिगत बोली कहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में दूसरे व्यक्ति की भाषा से अन्तर होता है। ध्वनि-भेद, स्वर-भेद, सुर-भेद आदि के आधार पर एक-एक व्यक्ति की बोली पृथक् पहचानी जाती है। इसी आधार पर केवल ध्वनि को सुनकर हम किसी व्यक्ति-विशेष को अंधकार में भी पहचान लेते हैं। व्यक्ति-भेद से भाषा में भेद आता है। इस प्रकार व्यक्तियों की पृथक् पृथक् ध्वनियों का विश्लेषण किया जाता है। व्यक्तिगत बोली ही सामूहिक रूप प्राप्त होने पर उप-बोली बनती है। उससे बोली और विभाषा की सृष्टि होती है।

6. अपभाषा (Slang)– अशिष्ट, असभ्य और अपरिष्कृत भाषा को अपभाषा नाम दिया जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि ने सर्वप्रथम अपभाषा की ओर ध्यान आकृष्ट

किया है। उनका कथन है- ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। (महाभाष्य आह्निक-1) अर्थात् ब्राह्मण या विद्वान् को म्लेच्छ भाषा और अशुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंग्रेजी में स्लैंग शब्द के द्वारा जिस अर्थ को व्यक्त किया जाता है, उसी अर्थ को अपभाषा शब्द व्यक्त करता है। अपभाषा में निम्नलिखित बातें होती हैं-

(क) व्याकरण के नियमों की उपेक्षा- अतएव शब्दों की शुद्धि और अशुद्धि का ध्यान न रखते हुए प्रयोग किया जाता है। एकर-इसका, ओकर-उसका, गउवाँ-गाँव, गवा-गया आदि।

(ख) अपरिष्कृत वाक्य-रचना-जैसे यद् वा नः, तद् वा नः हमारे लिए जो भी हो, के स्थान पर यर्वाणः, तर्वाणः। मैं बोला (मैंने कहा), मेरे से ये काम नहीं होगा (मुझसे यह काम नहीं होगा)।

(ग) अशिष्ट शब्द-प्रयोग- शिष्ट समाज में अनुचित माने गये शब्दों का प्रयोग करना। जैसे- रंडा-पुत्रः, वन्ध्यापुत्रः। अरे, अबे आदि सम्बोधन। गालीवाचक सभी शब्द, आदि।

(घ) अपरिष्कृत मुहावरों का प्रयोग- इसमें मनगढ़न्त मुहावरों का प्रयोग समन्वित है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से कहीं पर अर्थविस्तार है और कहीं पर अर्थ संकोच। जैसे- मारकर भुसा भरना, मक्खन लगाना, मक्खनबाजी, पिटाई को हजामत बनाना या कचूमर निकालना।

अपभाषा शैक्षिक और सामाजिक दृष्टि से निम्न वर्ग में प्रचलित रहती है। इसका प्रयोग वर्गविशेष और समाजविशेष में ही प्रचलित है। निम्न वर्ग के व्यक्तियों में और समवयस्क लोगों के हास्य-प्रमोद में इसका प्रचलन देखा जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि ने इसको अपभाषा या म्लेच्छभाषा नाम से सम्बोधित किया है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से अपभाषा का अध्ययन भाषा विषयक और सांस्कृतिक अनेक तथ्यों का परिचायक होता है।

7. विशिष्ट भाषा (Professional Language)- व्यक्ति समाज का अंग है। प्रत्येक व्यक्ति किसी समाज या वर्ग से सम्बद्ध होता है। प्रत्येक वर्ग की कुछ विशेष व्यावसायिक या पेशे की शब्दावली होती है, जिसका उसके जीवन से प्रतिपल सम्बन्ध

रहता है। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों के आधार पर भाषा के अनेक रूप समाज में दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे- किसान, मजदूर, लोहार, दर्जी, शिक्षक, वकील, डॉक्टर, पुरोहित, मुल्ला, पादरी आदि की अपने व्यवसाय के अनुसार अलग अलग शब्दावली होती है। इसी प्रकार विभिन्न विषयों राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, मनोविज्ञान और विभिन्न विज्ञानों की अपनी विशिष्ट शब्दावली होती है, जो उस विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों में ही चलती है। विशिष्ट शब्दावली के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि उस व्यक्ति का किस व्यवसाय से सम्बन्ध है। इस प्रकार एक पण्डित की शब्दावली में संस्कृतनिष्ठ शब्दों की बहुलता, मौलवी की शब्दावली में अरबी और फारसी शब्दों की बहुलता, अंग्रेजी पढ़े लोगों की बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों की बहुलता, वकीलों की भाषा में अंग्रेजी या उर्दू-फारसी के शब्दों की अधिकता दृष्टिगोचर होती है।

8. कूट-भाषा (Secret Language)- कूट-भाषा का उपयोग मनोरंजन और अपहृति के लिए किया जाता है। इसमें कुछ विशिष्ट शब्दों का विशेष अर्थ में प्रयोग होता है, जो उन संकेतों को जानता है, वह ही उसका अर्थ समझ सकता है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग राजनीतिज्ञों, विद्रोहियों, क्रान्तिकारियों, चोरों और डाकुओं आदि में प्रचलित होता है। कहीं इसका उद्देश्य मनोरंजन होता है और कहीं बात को छिपाना। भारतीय क्रान्ति के समय क्रान्तिकारी अपने पत्रों में गोपन के लिए बम को रसगुल्ला लिखते थे। राजनीतिज्ञों के तार या पत्रों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग होता है। 'आन्दोलन तेजी पर है' के लिए 'गर्मी बढ़ रही है।' इसी प्रकार 'पिटार्ई' के लिए 'स्वागत करना' आदि प्रयोग होते हैं। कहीं पर कूट-भाषा का प्रयोग वर्ण-परिवर्तन के द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। जैसे-चाकू को काचू, पानी को नीपा आदि। चोर-डाकू आदि गोपन की दृष्टि से ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उनके साथी ही समझ सकते हैं। जैसे- इनको अमर कर दो (मार डालो), प्रसाद देना (जहर देना), नारायण (नाले में डाल दो)। इसी प्रकार शिक्षित युवा वर्ग भी अपने उपयोग के लिए विशेष अर्थों में नये शब्द गढ़ लेते हैं और पत्र आदि में उसका ही उपयोग करते हैं। काव्यशास्त्र में विपरीत लक्षणा, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और अपहृति आदि में कूट-प्रयोग

आधार रूप में है। कूट-भाषा के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं पर वर्ण-परिवर्तन, वाक्य-परिवर्तन, प्रत्येक शब्द के साथ कुछ अक्षर जोड़ते जाना, अक्षरों के लिए अंकों का प्रयोग आदि।

9. **कृत्रिम भाषा (Artificial Language)**- कृत्रिम भाषा परम्परागत या स्वभावसिद्ध नहीं है। यह भाषा की सुबोधता और सुगमता को लक्ष्य में रखकर बनायी जाती है। इस दृष्टि से डॉ. जमेनहाफ की बनायी एस्परेन्तो भाषा विश्व में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। विश्व भर में इसका प्रचार है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ इस भाषा में निकलती हैं। इसका प्रयोग करने वालों की संख्या 80 लाख से अधिक बतायी जाती है। कुछ रेडियो स्टेशनों से इस भाषा में कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका उद्देश्य है- भाषा भेद से उत्पन्न होने वाली असुविधाओं को दूर करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के योग्य एक सामान्य भाषा को प्रस्तुत करना। इस प्रकार की एक दर्जन से अधिक भाषाएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं, जिनमें आक्सिडेण्टल, इण्टरलिगुआ, नोवियल आदि मुख्य हैं। कृत्रिम भाषा की कुछ न्यूनताएँ भी हैं, जिनके कारण इनका प्रचलन विस्तृत जनसमाज में सम्भव नहीं है। ये न्यूनताएँ हैं- 1. यह कामचलाउ भाषा होती है। इसमें गम्भीर विषयों का विवेचन सम्भव नहीं। 2. इसमें उच्च साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं। 3. इसमें हार्दिक मनोभावों का विवेचन या विश्लेषण सम्भव नहीं। 4. यह मातृ-भाषा का स्थान या गौरव नहीं प्राप्त कर सकती है। 5. भौगोलिक भेद के आधार पर ध्वनि-भेद होने से उसमें एकरूपता सम्भव नहीं है।

1.3 भाषा-विज्ञान : एक परिचय

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक मौखिक साधन को अपनाता है, वह भाषा है। यद्यपि संकेत आदि के द्वारा भी कुछ भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है, परन्तु अपने भावों को सूक्ष्म और स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साधन भाषा ही है। मनन, चिन्तन और विचार का साधन भी भाषा ही है। भाषा ही वह एक जीवन ज्योति है, जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। मानव के विचार ही उसका समाज से सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह सम्पर्क भाषा के माध्यम से ही होता है। यदि मनुष्य के पास भाषा जैसा अमोघ अस्त्र न होता तो

मनुष्य भी पशु-पक्षियों के तुल्य अपने भावों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकट करने में असमर्थ रहता। विश्व के प्रत्येक देश में कोई न कोई भाषा बोली जाती है और वही उनके विचार-विनिमय का माध्यम है। यह भाषा वस्तुतः मानव शरीर में दैवीय अंश है, जो इस सृष्टि में केवल मनुष्यमात्र को ही प्राप्त है। यह दिव्य ज्योति ही समस्त संसार में अपना प्रकाश फैलाए हुए है। इस भाषारूपी ज्योति के बिना संसार घोर अन्धकारमय होता।

भाषारूपी इस दैवीय अंश के द्वारा ही मनुष्य इस संसार में सर्वोत्तम जीव माना जाता है। वह अपने वाग्-व्यवहार के द्वारा ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। साथ ही वह चर और अचर जगत् का स्वामी भी भाषा के कारण बना हुआ है। इससे भाषा के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद (मण्डल 10, सूक्त 125) में वाग् सूक्त के 8 मंत्रों में इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि वाग्-तत्त्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है, जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है। इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है। भाषा का महत्त्व स्वीकार करते ही भाषा-विषयक अनेक जिज्ञासाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे- भाषा क्या है? भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? भाषा कैसे बनती है? भाषा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? भाषा के सूक्ष्मतम अवयव क्या हैं? उनकी उच्चारणविधि क्या है? विश्व की भाषाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इत्यादि। इन जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए शताब्दियों से प्रयत्न चल रहे हैं। शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों के बाद आज भाषा-विज्ञान एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो सका है। इधर लगभग 200 वर्षों से पाश्चात्य देशों में भी इस विषय पर गम्भीर मनन और चिन्तन हुआ है। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने 1786 ई. में संस्कृत भाषा का अध्ययन करते समय संस्कृत की लैटिन और ग्रीक से अनेक अंशों में समानता प्राप्त की और इनके तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया। इसप्रकार संस्कृत भाषा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की मूल बनी। सर विलियम जोन्स द्वारा डाली हुई नींव ही आज विकसित, पुष्पित और पल्लवित होकर भाषा-विज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है।

भाषा-विज्ञान, भाषा सम्बन्धी सभी प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध विश्व की समस्त भाषाओं से है। अतः वह एक भाषा से सम्बद्ध विषयों का ही नहीं, अपितु विश्व की समस्त भाषाओं का सामूहिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। प्रत्येक भाषा का व्याकरण उसकी रूप-सिद्धि, पद-निर्माण और वाक्य-प्रयोग की शिक्षा देता है। परन्तु भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण होने के कारण ध्वनि-परिवर्तन आदि सभी दिशाओं में उसके कारण की भी व्याख्या करता है। इसप्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण-दर्शन कहा जायेगा, क्योंकि यह भाषा के दार्शनिक रूप को भी स्पष्ट करता है।

भाषा-विज्ञान भाषा के उच्चारण, प्रयोग और उपयोग की शिक्षा देता है। भाषा के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। भाषा के सर्वांगीण विवेचन के साथ ही उसे जीवनोपयोगी भी बनाता है। भाषा-विज्ञान विश्व-भाषा-शिक्षण में अत्यन्त सहायक है। यह विश्व की विभिन्न भाषाओं की समानता की स्थापना करके विश्व एकता और विश्व-बन्धुत्व का भाव जागृत करता है।

भाषा-विज्ञान का नामकरण : भाषा-विज्ञान शब्द मूलरूप में पाश्चात्य विद्वानों की देन है। प्राचीन समय में भाषा-विषयक विभिन्न अंगों के अध्ययन के लिए अलग-अलग शब्द प्रचलित थे। जैसे- शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य आदि। इनका सम्बन्ध भाषा के किसी अंग-विशेष से रहता था। वर्तमान भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ 1786 ई. में सर विलियम जोन्स के संस्कृत, लैटिन, ग्रीक के तुलनात्मक अध्ययन के संकेत से हुआ। भाषा-विज्ञान को पाश्चात्य देशों में कई नाम दिये गये हैं। सर्वप्रथम इसे कम्पेरेटिव ग्रामर (Comparative Grammar) नाम दिया गया। इस नाम को अधिक शुद्ध न मानकर कम्पेरेटिव फिलॉलोजी (Comparative Philology) नाम दिया गया। भाषा-विज्ञान सदा कम्पेरेटिव (तुलनात्मक) ही होता है, अतः इसके लिए केवल फिलॉलोजी नाम अधिक पसन्द किया गया। इसके लिए ग्लासोलोजी (Glossology) का प्रयोग डेवीज ने 1817 ई. में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार 1841 ई. में प्रिचर्ड द्वारा ग्लाटोलोजी (Glottology) नाम भी प्रस्तुत किया गया। परन्तु यह नाम अधिक समय तक न चल सका।

फिलॉलोजी शब्द आज तक प्रचलित है। अंग्रेजी में इसके लिए साइंस ऑफ लैंग्वेज (Science of Language) नाम भी चलता है। यह नाम कुछ लम्बा अर्थात्

लघु-वाक्य सा लगता था, अतः इसके लिए वर्तमान में अधिक प्रचलित नाम लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) है। यह शब्द लैटिन के लिगुआ (Lingua, जीभ) से बना है। भाषा-विज्ञान के अर्थ में लैंग्विस्टीक (Linguistique) शब्द आज भी फ्रांस में प्रचलित है। वहीं से यह लिंग्विस्टिक नाम अंग्रेजी भाषा में लिया गया। 16वीं शताब्दी के षष्ठ दशक में यह लिंग्विस्टिक से लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) रूप में परिवर्तित हुआ है। जर्मन भाषा में भाषा-विज्ञान के लिए Sprachwissenschaft नाम है। रूसी भाषा में भाषा-विज्ञान के लिए 'यजिकाज्ञानिये' शब्द है। इसमें 'यजिक' का अर्थ भाषा है और 'ज्ञानिये' का अर्थ विज्ञान है।

फिलॉलोजी (Philology) शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों को मिलाकर बना है। फिलो-ग्रीक फिलोस (Philos) प्रेमी या प्रिय, लोजी ग्रीक लोगिया (Logia) एवं लैटिन भाषा के लोगिया (Logia) (ज्ञान की शाखा या विज्ञान) शब्दों के मेल से बना है। फिलॉलोजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1386 ई. में मिलता है। परन्तु भाषा-विज्ञान अर्थ में इसका प्रयोग 18वीं शताब्दी के दूसरे दशक से ही मिलता है। आधुनिक विद्वान् इसके साथ कम्परेटिव (तुलनात्मक) शब्द को जोड़ना पसन्द नहीं करते हैं।

प्राचीन समय में भाषा-विज्ञान विषयक अध्ययन के लिए व्याकरण, शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र, निर्वचनशास्त्र आदि शब्द प्रचलित थे। वर्तमान समय में इस अर्थ में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, शब्द-शास्त्र, भाषिकी आदि शब्द प्रचलित हैं। इनमें से भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र ये दो शब्द आज सबसे अधिक व्यवहृत हो रहे हैं। भाषा-विज्ञान में भाषा सम्बन्धी सभी प्रकार के विवेचन का समावेश हो जाता है, अतः भाषा-विज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है। इधर कुछ समय से लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) शब्द का अधिक प्रचलन है, अतः उसके लिए भाषाशास्त्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र ये दोनों शब्दों को समझने के लिए फिलॉलोजी और लिंग्विस्टिक्स के रूपान्तरण या भावानुवाद को समझना चाहिए।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा : भाषा के विशिष्ट ज्ञान को भाषा-विज्ञान कहते हैं। 'भाषायाः विज्ञानं-भाषा-विज्ञानम्।' 'विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्।' भाषा के वैज्ञानिक

और विवेचनात्मक अध्ययन भाषा-विज्ञान कहा जाएगा। संक्षेप में भाषा-विज्ञान का लक्षण किया जा सकता है-

‘भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है-’

भाषाया यत्तु विज्ञानं, सर्वाङ्गं व्याकृतात्मकम् ।

विज्ञानदृष्टिमूलं तद्, भाषाविज्ञानमुच्यते ।।

अनेक विद्वानों ने भाषा-विज्ञान की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जिसमें उन्होंने भाषा के विभिन्न पक्षों का संकलन किया है। किसी ने भाषा की उत्पत्ति आदि का संग्रह किया है, किसी ने सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा का संग्रह किया है, किसी ने भाषा के अध्ययन की विधियों को उसके अन्तर्गत रखा है और किसी ने भाषा की रचना, तुलना, प्रयोग आदि को स्थान दिया है। किसी ने उन तथ्यों का संग्रह किया है, जिनके द्वारा भाषा में परिवर्तन आदि होते हैं। वस्तुतः भाषा-विज्ञान की परिभाषा में अध्ययन के प्रकारों, भाषा के स्वरूप एवं परिवर्तन के कारणों आदि का पूर्णतया उल्लेख न सम्भव है, न अभीष्ट ही है। सर्वांगीण संग्रह करने पर भाषा-विज्ञान की परिभाषा एक बृहत् वाग्जाल हो जाएगा।

भाषा-विज्ञान या भाषाशास्त्र की भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं-

1. Comparative Philology or simply Philology is the Science of Language-Philology strictly means the study of a language from the literary point of view.

Dr. P-D- Gune, An Introduction to Comparative Philology, p- 1.

2. भाषा-विज्ञान, उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं या बोलियों के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

-डॉ. मंगलदेव शास्त्री, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पृ. 3

3. (क) भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास आदि के अध्ययन से है।

(ख) भाषा-विज्ञान, वह विज्ञान है, जिसमें भाषा विशिष्ट, कई और सामान्य का समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

-डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषा-विज्ञान, पृ. 4, 7

4. भाषा-विज्ञान का सीधा अर्थ है- भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है- विशिष्ट ज्ञान। इसप्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषा-विज्ञान कहलायेगा।

-डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ. 176

5. भाषा-विज्ञान को अर्थात् भाषा के विज्ञान को भाषिकी कहते हैं। भाषिकी में भाषा का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है।

-डॉ० देवीशंकर द्विवेदी, भाषा और भाषिकी, पृ. 126

6. General Linguistics may be defined as the Science of Language.

-R.H. Robins, General Linguistics, p- 1.

यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि भाषा-विज्ञान को भौतिकी आदि के तुल्य विज्ञान मानना उचित है या नहीं? भौतिकी आदि के नियम गणित-विज्ञान के तुल्य तत्त्वनिष्ठ होते हैं। जैसे दो तत्त्वों के संयोग से यह परिणाम उत्पन्न होता है। भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान और गणित-विज्ञान इसकी पुष्टि करेगा कि $2+2 = 4$ ही होता है। यह 3 या 5 नहीं हो सकता। परन्तु भाषा-विज्ञान में ऐसी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। दो ध्वनियों के मेल से एक भाषा में एक प्रकार का परिवर्तन लक्षित होता है, दूसरी भाषा में दूसरे प्रकार का। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा-विज्ञान में विज्ञान शब्द तात्त्विक आलोचना, तात्त्विक दर्शन और तात्त्विक विश्लेषण के आधार पर है। जिस प्रकार विज्ञान प्रत्येक वस्तु के अंग-प्रत्यंग एवं सूक्ष्मतम अवयव का विवेचन और विश्लेषण करता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान वर्ण, पद और वाक्य के सूक्ष्मतम अवयवों का विवेचन एवं विश्लेषण करता है। विज्ञान का उद्देश्य है-

कार्य-कारण-भाव की नित्यता की स्थापना। विज्ञान बताता है कि अमुक कारण की सत्ता से अमुक कार्य होता है। भाषा-विज्ञान भी इस कार्य-कारण-भाव को अपनाता है। यह बताता है कि इन विभिन्न परिस्थितियों में ये परिवर्तन होते हैं। इन कारणों के फलस्वरूप ये कार्य होंगे। भौतिक-विज्ञान आदि में अपवाद नहीं माने जाते, परन्तु भाषा-विज्ञान में अपवादों की संख्या भी पर्याप्त है। इसमें नियम और अनुभूति दोनों का समन्वय है, अतः यह शुद्ध विज्ञान न होकर मिश्रित विज्ञान है।

1.3.0 भाषा-विज्ञान का क्षेत्र

अन्य विज्ञानों के तुल्य भाषा-विज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध किसी एक भाषा से नहीं है। इसका सम्बन्ध मानवमात्र की भाषा से है। विश्व की समस्त भाषाएँ भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आती हैं। समस्त भाषाओं का विवेचनात्मक अध्ययन, विश्लेषण, उनकी उत्पत्ति और विकास तथा उनकी परस्पर तुलना आदि भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में केवल साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं होता, अपितु असभ्य, अर्धसभ्य एवं ग्रामीण लोगों की बोलियों का भी विशेष सावधानी के साथ अध्ययन किया जाता है। यहाँ यह समझ लेना उचित है कि भाषाशास्त्री के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा और ग्रामीण बोलियाँ अधिक महत्त्व की होती हैं, क्योंकि उनसे भाषा की प्रवृत्ति के मौलिक तत्त्वों का ठीक निष्कर्ष निकालना सम्भव होता है। मानवमात्र की भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मानव-मात्र से है।

भाषा-विज्ञान वर्तमान और अतीत दोनों प्रकार की भाषाओं का अध्ययन करता है। वह त्रैकालिक तथ्यों का अनुसंधान करता है और उनका प्रकाशन करता है। मानव की प्रवृत्ति का जितना सूक्ष्मतम अध्ययन भाषा-विज्ञान प्रस्तुत करता है, उतना अन्य विज्ञान नहीं। भाषा-विज्ञान एक ओर व्याकरण का कार्य करता है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान का। यह एक ओर सामान्य नियमों का निर्देश करता है तो दूसरी ओर उसके दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करता है। इस दार्शनिक पक्ष की व्याख्या में उसे अन्य अनेक विज्ञानों का सहयोग लेना पड़ता है। इसप्रकार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन तक हो सीमित न रह कर विज्ञान और शास्त्रों के अनेक अंगों तक व्याप्त

है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उसके सभी अंग सम्मिलित हैं, जिनका वर्णन आगे प्रस्तुत किया गया है।

1.3.1 भाषा-विज्ञान के अंग

भाषा-विज्ञान भाषा का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करता है, अतः उसमें भाषा के सभी घटकों का अध्ययन होता है। भाषा शब्द के द्वारा उसके चार घटकों का मुख्य रूप से बोध होता है- 1. ध्वनि (Sound), 2. पद या शब्द (Form), 3. वाक्य (Sentence), 4. अर्थ (Meaning)। भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि है। उसका ही सर्वप्रथम उच्चारण होता है। अनेक ध्वनियों से मिलकर पद या शब्द बनता है। अनेक पदों से वाक्य की रचना होती है और वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इनमें से प्रत्येक के विशेष अध्ययन के कारण भाषा-विज्ञान के 4 प्रमुख अंग विकसित हो गये हैं। इनके नाम हैं-

1. ध्वनि-विज्ञान (Phonology)
2. पद-विज्ञान (Morphology)
3. वाक्य-विज्ञान (Syntax)
4. अर्थ-विज्ञान (Semantics))

1. ध्वनि-विज्ञान- इसमें भाषा के मूल-तत्त्व ध्वनि का व्यापक अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से इन विषयों का संकलन होता है- ध्वनि क्या है? ध्वनियाँ कितनी हैं? इनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? ये ध्वनियाँ कैसे और कहाँ से उत्पन्न होती हैं? किस प्रकार ध्वनियों का सम्प्रेषण होता है? ध्वनियों के भेद का क्या कारण है? एकाधिक ध्वनियों के संयोग से क्या परिवर्तन होते हैं? ध्वनियों में तीव्रता और मन्दता क्यों आती है? ध्वनि-नियम क्या है? स्वनिम, स्वनिमी आदि का निरूपण करना।

2. पद-विज्ञान- अनेक ध्वनियों के समन्वय से पद या शब्द बनता है। पद-विज्ञान को रूप-विज्ञान, रूप-विचार और पद-विचार भी कहा जा सकता है। इसमें पद या रूप क्या है? पद कैसे बनता है? पद के घटक अवयव क्या हैं? पदों का

विभाजन किस आधार पर होता है? लिंग, विभक्ति, वचन, पुरुष, काल, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि तत्त्व क्या हैं? इनकी क्या उपयोगिता है? शब्द और पद में क्या अन्तर होता है? पद-निर्माण कितने प्रकार का होता है? इत्यादि विषयों का पद-विज्ञान में विवेचन किया जाता है।

3. वाक्य-विज्ञान- जिस प्रकार विभिन्न ध्वनियों के समन्वय से पद या रूप बनता है, उसी प्रकार विभिन्न पदों या रूपों के समन्वय से वाक्य बनता है। वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना किस प्रकार होती है? वाक्य में पदों का अन्वय किस प्रकार होता है? अन्वय का आधार क्या है? कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का किस स्थान पर निवेश होता है? वाक्य के कितने भेद हैं? इत्यादि बातों का विवेचन किया जाता है। वाक्य-विज्ञान को वाक्य-विचार, वाक्य-रचना-शास्त्र भी कहा जाता है। वाक्य विज्ञान को 3 भागों में विभक्त किया गया है-

(क) वर्णनात्मक वाक्य विज्ञान (Descriptive Syntax)

(ख) ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान (Historical Syntax)

(ग) तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान (Comparative Syntax)

वर्णनात्मक वाक्य विज्ञान में वाक्य की रचना का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया जाता है। **ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान** में वाक्य की रचना का इतिहास भी दिया जाता है और **तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान** में दो या अनेक भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

4. अर्थ-विज्ञान (Semantics) जिस प्रकार मानव शरीर का सार भाग आत्मा है, उसी प्रकार भाषारूपी शरीर की आत्मा अर्थ है। अर्थ-विज्ञान को अर्थ-विचार भी कहते हैं। इसमें अर्थ किसे कहते हैं? शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है? अर्थ का निर्धारण कैसे हुआ? अर्थ-परिवर्तन क्यों और कैसे होता है? अर्थ-परिवर्तन की क्या दिशाएँ हैं? अर्थ-परिवर्तन के क्या कारण हैं? इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है। इसका भी समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों रूपों में अध्ययन हो सकता है। इसमें पर्यायवाची शब्द, नानार्थक शब्द, विलोम शब्द आदि का भी विवेचन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के गौण अंग : यद्यपि प्रमुख रूप से भाषा-विज्ञान के उपर्युक्त चार अंग ही हैं, परन्तु भाषा-विज्ञान में कतिपय अन्य विषयों पर भी विवेचन किया जाता है। उन्हें इसका गौण अंग समझना चाहिए। इनमें विशेष उल्लेखनीय ये अंग हैं-

1. भाषा की उत्पत्ति (Origin of Language)- भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस विषय में भाषाशास्त्रियों का क्या मत है? भाषा का विकास कैसे हुआ? आदि बातों पर विवेचन किया जाता है।

2. भाषाओं का वर्गीकरण (Classification of Languages)- संसार की विभिन्न भाषाओं को रूप या आकृति के आधार पर तथा भौगोलिक आधार पर अलग-अलग वर्गों में विभक्त किया गया है। रूप के आधार पर होने वाले वर्गीकरण को रूपात्मक या आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं और भौगोलिक आधार पर होने वाले वर्गीकरण को पारिवारिक वर्गीकरण या ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते हैं। इस आधार पर निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन-सी भाषाएँ किस वर्ग में आती हैं। उनकी समानताओं और विषमताओं का भी इसमें अध्ययन किया जाता है।

3. कोश-विज्ञान (Lexicology)- इस विज्ञान में कोश-रचना का प्रकार बताया जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति क्या है? शब्दों का अर्थ कैसे निर्धारित किया जाता है? प्रत्येक शब्द का किन अर्थों में प्रयोग होता है? एकार्थक, अनेकार्थक, विषमार्थक शब्दों की व्याख्या आदि इस विज्ञान के अंग हैं। व्युत्पत्ति-शास्त्र (Etymology) भी कोश-विज्ञान के अन्तर्गत आता है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के लिए संस्कृत का 'निरुक्त' शब्द प्रचलित है। इसकी वेद के षडंगों में गणना है। कोश-विज्ञान में निर्वचन-शास्त्र का पूरा उपयोग होता है, अतः व्युत्पत्ति-शास्त्र को कोश-विज्ञान के अन्तर्गत माना जाता है।

4. लिपि-विज्ञान (Graphonomy, Graphics) - इसमें लिपि की उत्पत्ति, विकास और उसकी उपयोगिता आदि पर विचार किया जाता है। लिपि के आधार पर ही किसी भाषा का अध्ययन किया जाता है, अतः इसे भी भाषा-विज्ञान का अंग माना जाता है।

5. भाषिक-भूगोल (Linguistic Geography) - इसमें भौगोलिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया जाता है। विश्व के किन-किन भागों में कौन-कौन-सी भाषाएँ

बोली जाती है? किस भाषा का कितना व्यापक क्षेत्र है? उसकी कितनी बोलियाँ और उप-बोलियाँ हैं? उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं? इसका अध्ययन किया जाता है। बोली-भूगोल (Dialect Geography) नामक प्रसिद्ध शाखा इसी के अन्तर्गत आती है।

6. प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)– इसमें भाषा-विज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। भाषा-विज्ञान ही एकमात्र साधन है, जिसके द्वारा प्राचीन संस्कृतियों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यह शाखा अभी तक शैशवावस्था में है।

7. शैली-विज्ञान (Stylistics) भाषा-विज्ञान की यह नवीन किन्तु महत्वपूर्ण शाखा है। इसमें अध्ययन किया जाता है कि किसी भाषा के लेखक या कवि आदि भाषा के किन शब्दों को मुख्य रूप से अपनाते हैं, उनकी शैली की क्या विशेषताएँ हैं? इस विज्ञान के द्वारा लेखक, कवि और वक्ता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्तिगत अन्तर एवं शैली-सम्बन्धी अन्तर का अध्ययन शैली-विज्ञान का विषय है।

8. भू-भाषा-विज्ञान (Geo-linguistics) इसमें विश्व की भाषाओं का विभाजन तथा उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव का संग्रह किया जाता है। साथ ही विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं, इसका वर्णन रहता है। राजभाषा एवं जनभाषा आदि समस्याओं का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

9. समाज-भाषा-विज्ञान (Socio-linguistics)– इसमें भाषा और समाज का सम्बन्ध तथा समाज के विभिन्न स्तरों पर प्रयुक्त भाषा की ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ आदि की विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

10. मनोभाषा-विज्ञान (Psycho-linguistics)– इसमें भाषा और विचार का सम्बन्ध, भाषा का मानस पटल पर प्रभाव, भाषा और अनुभूति आदि मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त भाषा का कुछ विभिन्न दृष्टिकोणों से भी अध्ययन किया जाता है। इन सबको भाषा-विज्ञान के उपांग ही समझने चाहिए।

(क) भाषा-विज्ञान के इतिहास का अध्ययन- इसमें भारत एवं पाश्चात्य देशों में हुए भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) बोली-विज्ञान (Dialectology)- इसमें विभिन्न बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

(ग) सुर-विज्ञान (Tonetics)- इसमें विभिन्न भाषाओं में सुर या टोन के आधार पर क्या परिवर्तन होते हैं? किस प्रकार अर्थों में परिवर्तन होता है? भाषा में टोन का क्या महत्व है? आदि का अध्ययन किया जाता है।

(घ) भाषा-विकास (Linguistic Phylogeny)- इसमें भाषा में होने वाले परिवर्तन और विकास के कारणों का अध्ययन और विवेचन किया जाता है।

(ङ) भाषा-प्रकार-विज्ञान (Linguistic Typology)- इसमें रूपात्मक आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है। इसकी अधिकांश विशेषताएँ आकृतिमूलक वर्गीकरण के तुल्य हैं।

(च) भाषिक पुनर्निर्माण (Linguistic Reconstruction)- इसमें एक परिवार की दो या अनेक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि इन भाषाओं की मूल भाषा क्या थी। इसप्रकार के अध्ययन से ही इण्डोयूरोपियन (भारोपीय) और इण्डोहिट्टाइट आदि अज्ञात भाषाओं का पुनर्निर्माण किया गया है।

1.3.2 भाषा-विज्ञान की शाखाएँ

भाषा-विज्ञान की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं-

1. वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive Linguistics)
2. ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (Historical Linguistics)
3. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Linguistics)

1. वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive Linguistics)- इसमें किसी एक भाषा का किसी काल-विशेष से सम्बद्ध स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भाषा के उस काल के स्वरूप का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। यह भाषा वर्तमानकाल की हो सकती है। यदि उसका प्राचीन साहित्य विद्यमान है तो वह भूतकाल की भी हो

सकती है। जैसे- संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अंग्रेजी आदि का प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इनका वर्णनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है। वर्णनात्मक विवेचन में उसका ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से विवेचन किया जाता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान को दूसरे शब्दों में व्याकरण कहा जा सकता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध उसके विद्यमान स्वरूप से है। इसमें भाषा का विकास या तुलनात्मक अध्ययन विचार का विषय नहीं है, अतः इसे स्थित रूपात्मक कहा जाता है। जैसे- संस्कृत व्याकरण या पाणिनीय व्याकरण को स्थित रूपात्मक कहा जाएगा। पाणिनि ने संस्कृत भाषा का जो विश्लेषणात्मक स्वरूप उपस्थित किया है, उसकी पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण नहीं मिल सकता।

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान सामान्य भाषा-विज्ञान का प्रमुख अंग माना जाता है। इसको आधार मानकर ही ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान आगे बढ़ते हैं। यह भाषा-विज्ञान के एक स्वतंत्र अंग के रूप में विकसित होने लगा है। इस प्रणाली के पक्षपाती भाषा के केवल उच्चरित रूप का ही अध्ययन आवश्यक समझते हैं। वे ध्वनि, पद और वाक्य तक ही इसकी सीमा निर्धारित करना चाहते हैं। उनके मतानुसार वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान में अर्थ-विज्ञान को स्थान नहीं है। यह विचार अत्यन्त आपत्तिजनक और उपेक्षणीय है। ध्वनि, पद और वाक्य भाषा के शरीर हैं। अर्थ आत्मा है। अर्थरूपी आत्मा के बिना शरीर निस्सार है। अर्थ की उपेक्षा करने पर वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान निर्जीव शरीर के चीरफाड़ के तुल्य निस्सार हो जाएगा। अतः वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान में अर्थ-विज्ञान का संकलन अनिवार्य है।

2. ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान (Historical Linguistics)— इसमें भाषा के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का आदि रूप क्या था? उसमें परिवर्तन होते हुए मध्ययुगीन रूप क्या था और उसका वर्तमान रूप क्या है? इसमें कम से कम दो कालों का क्रमिक विकास दिखाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ-वैदिक संस्कृत से लेकर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के रूप में परिवर्तित

होते हुए वर्तमान हिन्दी आदि भाषाओं का क्रमिक विकास इस ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का विषय होगा। ध्वनि, पद और वाक्यों में किस प्रकार क्रमशः विकार आया? किस युग में उसका क्या स्वरूप हुआ और उसका वर्तमान विकसित रूप क्या हुआ? यह ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान बताता है। इस अध्ययन में वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का पूर्ण उपयोग होता है। भाषा में क्या-क्या परिवर्तन हुए? उनके क्या कारण थे? इत्यादि का विवेचन भी इसका विषय है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा विषयक परिवर्तन बहुत सूक्ष्म होते हैं, ये अल्पकाल में परिलक्षित नहीं होते, परन्तु अनेक शताब्दी बीतने पर ये परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी के फलस्वरूप वैदिक संस्कृत के विकसित रूप में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी आदि भाषाएँ दिखाई देती हैं।

भाषा-विज्ञान में समकालिक (Synchronic) और कालक्रमिक (Diachronic) इस दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उपर्युक्त दोनों स्थितियों के लिए प्रचलित है। समकालिक भाषा-विज्ञान में उस काल-विशेष में प्रचलित भाषा के रूपों का अध्ययन किया जाता है। वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान एककालिक या समकालिक है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान कालक्रमिक है। इसमें विभिन्न कालों के रूपों का अध्ययन किया जाता है।

3. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Linguistics)— इसमें दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। यह तुलना किसी एक काल-विशेष या अनेक कालों के आधार पर की जाती है। इसमें भाषा की ध्वनियाँ, पद और वाक्य सभी दृष्टि से तुलना की जाती है। इसमें वर्णनात्मक और ऐतिहासिक प्रणालियों का भी अन्तर्भाव होता है। वर्णनात्मक अंश के आधार पर ही दो या अनेक भाषाओं की तुलना की जाती है। इस अध्ययन में ऐतिहासिक प्रणाली भी विभिन्न कालों के रूपों का स्वरूप बता कर सहयोग प्रदान करती है। इसप्रकार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में वर्णनात्मक और ऐतिहासिक दोनों प्रणालियों का पूर्ण सहयोग रहता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, भाषा-विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक की तुलना ने ही इस तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। इसके ही आधार पर तुलनात्मक देवशास्त्र, तुलनात्मक विश्व-संस्कृति आदि अनेक शाखाएँ प्रचलित हुई हैं।

भाषा-विज्ञान, विज्ञान है या कला?

विज्ञान का अर्थ है- 'विशिष्ट ज्ञान।' उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान को भी विज्ञान कहा गया है। विज्ञान में विकल्प या विप्रतिपत्ति को स्थान नहीं है। उसका निर्णय शाश्वत् और स्थायी है। इसके विपरीत कला में विकल्पात्मक प्रतीति होती है। यह देश, काल आदि के भेद से विभिन्न हो सकती है। अतएव ज्ञान की दो शाखाएँ की जाती हैं- कला और विज्ञान। शाश्वत् मूल्य वाला किन्तु रसबोध से रहित ज्ञान, विज्ञान की कोटि में आता है और परिवर्तनशील मूल्य वाला एवं रसबोध से युक्त ज्ञान, कला की कोटि में आता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान कला की कोटि में कम, विज्ञान की कोटि में अधिक है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा की ध्वनियों के विवेचन, विश्लेषण तथा पद-रचना आदि से है। रसबोध इसका विषय सर्वथा नहीं है। साहित्यिक अनुभूति, कल्पना की उड़ान, मनोरंजन आदि इसके लक्ष्य न होकर, शुद्ध तात्त्विक निष्कर्ष पर पहुँचना भाषा-विज्ञान का लक्ष्य है। अतएव भाषा-विज्ञान को विज्ञान की कोटि में रखा जाता है। विज्ञान में तीन पथप्रदर्शक तत्त्व होते हैं। ये तीनों तत्त्व भाषा-विज्ञान में पूर्ण रूप से मिलते हैं। ये तीन तत्त्व हैं- 1. सर्वांगीण विवेचन (Exhaustiveness)- भाषा-विज्ञान उपलब्ध सामग्री का सर्वांगीण और परिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। 2. सामंजस्य (Consistency)- इसमें किसी एक निष्कर्ष का आगे विरोध नहीं किया जाता। प्राप्त निष्कर्षों का सदा सामंजस्य रखा जाता है। 3. लाघव (Economy) भाषा-विज्ञान में शब्द-लाघव और लघुतर शब्दावली का ही उपयोग होता है। उपर्युक्त गुणों के कारण भाषा-विज्ञान को विज्ञान की कोटि में रखा जाता है। यहाँ यह कथन उचित है कि जिस प्रकार विज्ञान साहित्य से विरोध रखता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान का साहित्य से कोई विरोध नहीं है। अपितु साहित्य भाषा-विज्ञान का एक अत्यन्त उपयोगी और सहायक अंग है। साथ ही साहित्य में जो रसानुभूति की प्रधानता है, वह रसानुभूति भाषा-विज्ञान में सर्वथा नहीं है।

इस बात का वर्णन पहले किया जा चुका है कि भाषा-विज्ञान भौतिकी, रसायन-विज्ञान आदि के तुल्य पूर्ण रूप से विज्ञान नहीं है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त और निष्कर्ष किसी भाषा-विशेष से और किसी काल-विशेष से सम्बद्ध होते हैं। वे न

तो सार्वत्रिक है और न शाश्वत्। विभिन्न कालों और विभिन्न परिस्थितियों में भाषा-विज्ञान के निष्कर्ष पृथक् पृथक् होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि, सर्वांगीण विवेचन, सामंजस्य और लाघव गुणों के कारण इसे विज्ञान कहते हैं।

1.3.3 भाषा-विज्ञान की उपयोगिता

भाषा-विज्ञान एक विज्ञान है। विज्ञान स्वतः निरपेक्ष होता है। तात्त्विक विवेचन और तत्त्वसंदर्शन ही उसका लक्ष्य होता है। तत्त्वसंदर्शन से बौद्धिक शान्ति और आनन्दानुभूति होती है। अतएव वैज्ञानिक चिन्तन निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्ष होता है। इसी दृष्टि से भाषा-विज्ञान की भी कतिपय उपयोगिताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

1. ज्ञान-पिपासा की शान्ति- भाषा-विज्ञान हमारी भाषा विषयक जिज्ञासाओं को शान्त करता है। ज्ञान की वृद्धि मानवमात्र का कर्तव्य है। भाषा हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। उसके विषय में विस्तृत जानकारी प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है। अतएव आचार्य पतंजलि ने षडंग वेद के अध्ययन की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को निष्काम भाव से षडंग वेद का अध्ययन करना चाहिए।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयोऽज्ञेयश्च। (महाभाष्य, आह्निक-1)

यह ज्ञान-पिपासा की शान्ति हमें बौद्धिक और मानसिक शान्ति प्रदान करती है।

2. भाषा के परिष्कृत रूप का ज्ञान- भाषा-विज्ञान के द्वारा भाषा का सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाता है। भाषा हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। भाषा-विज्ञान के द्वारा ध्वनियों, वर्णों, प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे शुद्ध अर्थ का बोध होता है, उच्चारण की शुद्धता आती है और भाषा के परिष्कृत रूप के साथ वाग्ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। एक प्राचीन श्रुति का यह कथन सत्य है कि-

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।

(महाभाष्य आह्निक 1)

3. **भाषा-विज्ञान से वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रवृत्ति-** भाषा-विज्ञान के द्वारा भाषा के सूक्ष्म अध्ययन की ओर मानव की प्रवृत्ति ही नहीं होती, अपितु उसका दृष्टिकोण विज्ञानमूलक हो जाता है। वह प्रत्येक वस्तु के तत्त्वदर्शन और तत्त्वज्ञान की ओर अग्रसर होता है। किसी भी विज्ञान या शास्त्र का तत्त्वदर्शन मानव का लक्ष्य है।

4. **वेदार्थ-ज्ञान में सहायक-** वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञान में भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक अध्ययन ने विशेष योगदान किया है। लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि भाषाओं के अध्ययन ने अनेक वैदिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है।

5. **प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान-** प्राचीनकाल की संस्कृति और सभ्यता के ज्ञान में भाषा-विज्ञान का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषाशास्त्री के लिए भाषा के प्रत्येक शब्द बोलते हुए प्राणी हैं और वे अपना परिचय स्वयं देते हैं। इन शब्दों के सूक्ष्म अध्ययन से उस समय की संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान होता है। प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति के ज्ञान का साधन एकमात्र भाषा-विज्ञान है। आर्य जाति, द्राविड़ जाति, प्राचीन मिश्र और असीरिया की जातियों की संस्कृति का बोध भाषा-विज्ञान के द्वारा ही हुआ है।

6. **विविध भाषा-ज्ञान-** भाषा-विज्ञान की सहायता से अनेक भाषाओं का ज्ञान सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय में स्वनिम-विज्ञान हमारा विशेष सहायक होता है।

7. **विश्व-बन्धुत्व-भावना का प्रेरक-** भाषा-विज्ञान विश्व की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान करा कर हमारे अन्दर व्याप्त संकीर्ण भावना को दूर करता है। अनेक भाषाओं के साथ सम्बन्ध का ज्ञान होते ही उनसे आत्मीयता की अनुभूति होती है। जैसे- यह ज्ञात होते ही कि संस्कृत उसी परिवार की भाषा है, जिस परिवार के अंग लैटिन, ग्रीक, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, अवेस्ता, फारसी आदि भाषाएँ हैं, हमारी आत्मीयता इन भाषाओं के साथ हो जाती है और हम इन्हें अपने परिवार का अंग समझने लगते हैं। इसप्रकार विश्व-बन्धुत्व की भावना फैलती जाती है।

8. **साहित्य-ज्ञान में सहायक-** भाषा-विज्ञान भाषा के सूक्ष्म अर्थों का विश्लेषण करता है। इसका अर्थ-विज्ञान नामक अंग अर्थ-विकास की कहानी प्रस्तुत करता है। इससे

न केवल शब्दों का अर्थ ही ज्ञात होता है, अपितु उनमें छिपी हुई काव्य की आत्मा 'ध्वनि' भी प्रस्फुटित होती है।

9. व्याकरण-दर्शन- भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण है। व्याकरण के नियमों का क्या दार्शनिक आधार है, इसका निरूपण भाषा-विज्ञान करता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रकृति और प्रत्यय का मौलिक अर्थ, पद-विभाजन का आधार आदि बातों का विवेचन दार्शनिक दृष्टि से भाषा-विज्ञान करता है।

10. वाक्-चिकित्सा- चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भाषा-विज्ञान एक आवश्यक अंग माना जाता है। तुतलाना, हकलाना, अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध या अस्पष्ट श्रवण आदि दूर करने के लिए पाश्चात्य जगत् में वाक्-चिकित्सा को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। भाषा-विज्ञान यह बताने में समर्थ होता है कि किस दोष के कारण अमुक व्यक्ति स्पष्ट बोलने में असमर्थ है तथा किस उपचार से उस रोग का उपशम हो सकता है।

11. संचार-साधनों का उपयोगी सहायक- दूर-संचार (Tele-communication) तथा यान्त्रिक प्रतीकात्मक अनुवाद के लिए भाषा-विज्ञान की सहायता ली जाती है। भाषा-विज्ञान के संकेतों के द्वारा दूर-संचार-पद्धति के लिए आवश्यक संकेत उपलब्ध होते हैं।

12. भाषिक यंत्रीकरण में सहायक- भाषा-विज्ञान भाषा विषयक यंत्रों के निर्माण में विशेष सहयोगी है। टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर, ऑडियोविजुअल आदि के विकास में विशेष सहयोगी है। भाषा-विज्ञान इनके लिए शुद्ध एवं उपयोगी संकेत-चिह्न प्रदान करता है।

13. लिपि-विकास में सहायक- भाषा-विज्ञान सांकेतिक लिपि के उन्नयन के द्वारा लिपियों में संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करने में सहायक होता है।

14. विभिन्न शास्त्रों से समन्वय- भाषा-विज्ञान का ज्ञान और विज्ञान की अनेक शाखाओं से निकटतम सम्पर्क है। अतः भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी व्याकरण, साहित्य, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, भूगोल, इतिहास, भौतिक विज्ञान आदि विषयों से सामान्यतया स्वतः परिचित हो जाता है।

15. अनुवाद, पाठ-संशोधन, अर्थ-निर्णय आदि में सहायक- विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों आदि का अन्य भाषाओं में अनुवाद करने में, प्राचीन ग्रन्थों के

पाठ-निर्णय में तथा प्राचीन शब्दों के अर्थ-निर्णय में भाषा-विज्ञान विशेष सहायक सिद्ध होता है।

16. विभिन्न विज्ञानों का जन्मदाता- भाषा-विज्ञान के द्वारा ही कई नवीन विज्ञानों की उत्पत्ति हुई है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ है। इसी प्रकार तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक वेद-विज्ञान, पुराण-विज्ञान, विश्व संस्कृति-विज्ञान, नृजाति-विज्ञान आदि विज्ञानों का उद्भव हुआ है। ये विज्ञान तुलनात्मक पद्धति पर आश्रित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से भाषा-विज्ञान की उपयोगिता का अनुमान लगाया जा सकता है।

1.3.4 भाषा-विज्ञान और अन्य शास्त्र

भाषा-विज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध भाषा से है। भाषा का सम्बन्ध मानवमात्र से है। भाषा मानव की प्रवृत्ति और प्रकृति का यथार्थ दर्पण है। भाषा मानव-जीवन का अभिन्न अङ्ग है। अतः मानव जीवन से सम्बद्ध विज्ञानों और शास्त्रों से भी भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। जिस प्रकार समाज का एक व्यक्ति अनेक रूपों में अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान की अनेक विधाएँ ऐसी हैं, जिससे वह अन्य विज्ञानों से निकटतम सम्पर्क रखता है। भाषा-विज्ञान के तात्त्विक ज्ञान के लिए इन विज्ञानों और शास्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर कतिपय तथ्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए वे भाषा-विज्ञान का आश्रय लेते हैं। संक्षेप में कतिपय सम्बद्ध प्रमुख विज्ञानों और शास्त्रों का भाषा-विज्ञान से क्या सम्बन्ध है? इसका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

(क) भाषा-विज्ञान और व्याकरण

भाषा-विज्ञान और व्याकरण में कतिपय समानताएँ हैं और कुछ विषमताएँ हैं-
समानताएँ-

1. व्याकरण का अर्थ है- विवेचन और विश्लेषण। व्याकरण की व्युत्पत्ति है-
“व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दाः, प्रकृतिप्रत्ययादयो वा, येन तद् व्याकरणम्।” अर्थात् इसके द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विश्लेषण किया जाता है। भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों में विवेचन और विश्लेषण ही प्रमुख तत्त्व हैं।

2. दोनों का भाषा के अध्ययन से साक्षात् सम्बन्ध है।
3. दोनों भाषा के सूक्ष्मतम अंश का प्रतिपादन करते हैं।
4. दोनों भाषा के साधुत्व पर बल देते हैं।
5. भाषा का परिष्कार और यथार्थ ज्ञान दोनों का लक्ष्य है।
6. भाषा का सर्वांगीण विवेचन दोनों का उद्देश्य है।

विषमताएँ-

1. भाषा-विज्ञान, विज्ञान है और व्याकरण शास्त्र है। व्याकरण सिद्ध रूप के प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन करता है। उसके उच्चारण और लेखन की शिक्षा देता है। साधु शब्द के प्रयोग का आदेश देता है। व्याकरण भाषा-सम्बन्धी 'क्या या किम्' का उत्तर देता है। भाषा-विज्ञान इससे आगे जाकर 'क्यों या कथम्' का उत्तर देता है। व्याकरण सिद्ध रूप का विवरण प्रस्तुत करके कार्य-विरत हो जाता है। उसके कारण की व्याख्या भाषा-विज्ञान करता है।

2. व्याकरण का क्षेत्र सीमित है, भाषा-विज्ञान का व्यापक। व्याकरण का सम्बन्ध एक भाषा से होता है, भाषा-विज्ञान का अनेक भाषाओं से। इतना ही नहीं, अपितु विश्व की समस्त भाषाओं से भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है।

3. भाषा-विज्ञान और व्याकरण में कारण-कार्य सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान प्रत्येक भाषा के व्याकरण के कारणों का विवेचन करता है। व्याकरण शिष्ट, प्रयुक्त एवं व्याकरण-सम्मत शब्दों के ही विवेचन पर ध्यान देता है।

4. व्याकरण शरीर है, भाषा-विज्ञान नेत्र है। प्रत्येक भाषा के व्याकरणरूपी शरीर में भाषा-विज्ञान नेत्र का काम देता है। वह व्याकरण के कार्यों का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करता है।

5. प्रत्येक भाषा के व्याकरण एक-एक अवयव का कार्य करते हैं। भाषा-विज्ञान सभी भाषाओं से सम्बद्ध है, अतः अब व्याकरण को अंग और भाषा-विज्ञान को अंगी समझा जाता है।

6. व्याकरण वर्णन प्रधान एवं विवरणात्मक है, भाषा-विज्ञान व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक है। व्याकरण भाषा-विज्ञान के लिए साधन और सामग्री एकत्र करता है।

ऐसी स्थिति में ऐसा होता है, यह बताता है। भाषा-विज्ञान उसका मौलिक कारण बनाता है।

7. व्याकरण एककालिक भाषा के स्वरूप का अध्ययन करता है और वर्तमान के प्रसंग में उसकी व्याख्या करता है। भाषा-विज्ञान अतीत और वर्तमान दोनों स्वरूपों का अध्ययन करता है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान प्रत्येक भाषा के उद्गम और विकास का इतिहास प्रस्तुत करता है।

8. व्याकरण प्राचीनतावादी और रूढ़िवादी है, भाषा-विज्ञान नवीनतावादी और प्रगतिवादी। व्याकरण प्राचीन एवं परिष्कृत शब्दों को ही शुद्ध मानता है और साधु-शब्द प्रयोग का आदेश देता है। भाषा-विज्ञान नवीनतावादी, प्रगतिवादी और विकासवादी है। वह भाषा को कुण्ठित और जर्जर नहीं मानता है, वह उसे नित-नूतन और नित-युवा मानता है। वह नये रक्त का संचार भाषा के विकास के लिए अनिवार्य मानता है।

9. व्याकरण परिष्कृत भाषा को ही अपनाता है, भाषा-विज्ञान असिद्ध, अशुद्ध, प्राकृत, अपभ्रंश एवं ग्राम्यजन में व्यवहृत भाषा को भी भाषा की बहुमूल्य निधि मानता है। अतएव भाषा-विज्ञान के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए, भाषा की प्रगति और प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा ग्रामीण भाषा एवं बोलचाल की भाषा अधिक उपादेय मानी जाती है। इसमें भाषा के स्वाभाविक प्रवाह का स्वरूप अधिक निखरा हुआ मिलता है।

10. भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण है। इसमें व्याकरण द्वारा बनाये नियमों का दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाता है।

11. व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। भाषा-विज्ञान द्वारा बनाये गये निर्देशक तत्त्वों का अनुसरण व्याकरण को करना पड़ता है। कालक्रम एवं विकास के अनुसार प्रचलित शब्दों के प्रयोग को भाषा-विज्ञान शुद्ध मानता है। अतएव सत्य > सच्च > सच, घृत > घी, जगत् > जग, उपाध्याय > ओझा > झा, सन्ध्या > साँझ आदि शब्द विकसित रूप होने के कारण साधु शब्द हैं। परवर्ती व्याकरण इन्हें शुद्ध रूप मानकर व्याख्या करता है।

12. दोनों की सामग्री एवं विवेच्य विषय में भी अन्तर है। व्याकरण के मुख्य विषय हैं- शब्दरूप साधन, वाक्य विन्यास एवं वाक्य प्रयोग शिक्षण। भाषा-विज्ञान में ध्वनि-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन, विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, लिपि, कोश-विज्ञान आदि का भी समावेश है।

(ख) भाषा-विज्ञान और साहित्य

भाषा-विज्ञान का व्याकरण से अंगांगिभाव या अवयव-अवयवि-भाव सम्बन्ध है, तो साहित्य से उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है। साहित्य भाषा-विज्ञान के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है। साहित्य में भाषा का चिर-संचित रूप प्राप्त होता है। भाषा-विज्ञान के दो प्रमुख अंग ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पूर्णतया साहित्य पर ही निर्भर हैं। साहित्य प्रारम्भिक, मध्यकालीन और वर्तमानकालीन, तीनों रूपों को प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा ही ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का आधार भी विभिन्न भाषाओं का साहित्य ही है। यदि विभिन्न भाषाओं का साहित्य उपलब्ध न होता तो तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विकास असम्भव था। भाषा-विज्ञान का जन्म ही संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के साहित्य के अध्ययन से ही हुआ है। साहित्य के द्वारा ही हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से विकास हुआ। साहित्य ही अर्थ-विज्ञान और अर्थ-विकास का आधार है। शब्दों के अर्थों में किस प्रकार अर्थ-परिवर्तन होते हैं, अनुपयोगी शब्दों का किस प्रकार विनाश होता है, नये शब्दों का किस प्रकार जन्म होता है, आदि की कथा साहित्य में ही संचित है।

भाषा-विज्ञान, विज्ञान है और साहित्य कला है। भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और साहित्य का हृदय से। भाषा-विज्ञान में प्रयुक्त भाषाओं, बोलियों और जन-साधारण में प्रचलित भाषा का भी अध्ययन होता है। साहित्य में केवल प्रयुक्त भाषाओं और शिष्ट सम्मत भाषा का ही संग्रह होता है। इसप्रकार साहित्य की अपेक्षा भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

साहित्य और भाषा-विज्ञान एक दूसरे के उपकारक हैं। साहित्य भाषा के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखकर भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत

करता है। इसप्रकार साहित्य भाषा-विज्ञान का उपकारक है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी साहित्य का उपकारी है। साहित्य के अनेक अस्पष्ट और दुर्बोध शब्दों का इतिहास भाषा-विज्ञान की सहायता से ही ज्ञात हो पाता है। वेद के सैकड़ों शब्दों का अर्थ-निर्णय भाषा-विज्ञान की सहायता से हो पाया है। भाषा-विज्ञान की सहायता से ही एक भाषा का विद्वान् अनेक भाषाओं से सम्बद्ध होकर विभिन्न भाषाओं के साहित्य की जानकारी प्राप्त करता है एवं बहुभाषाविद् हो जाता है।

(ग) भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान में भाषा का अध्ययन किया जाता है और मनोविज्ञान में मन का। मनोविज्ञान इस बात का विश्लेषण करता है कि मन किस प्रकार गति करता है, किस प्रकार विचार उठते हैं और किस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं? भाषा का आधार विचार या भाव है। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। भाषा के मूल में विचार है और विचारों का साधन मन है। अतः मनोविज्ञान का भाषा एवं भाषा-विज्ञान से साक्षात् एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्वनि-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान में भी मनोविज्ञान की विशेष आवश्यकता पड़ती है। विचारों के अनुसार जैसी मन की स्थिति होगी, वैसा ही भाषा का उच्चारण होगा। इसप्रकार ध्वनि-विज्ञान में मनोविज्ञान कारण रहता है। अर्थ-परिवर्तन आदि में भी मनोविज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। एक शब्द का अनेकार्थक होना, अमंगल या अशुभ-बोधक शब्दों के अर्थों में अन्तर तथा राग-द्वेष आदि के कारण होने वाले अर्थ-परिवर्तनों का कारण मनोविज्ञान की सहायता से ही सरलता से समझा जा सकता है। इसका विस्तृत विवेचन अर्थ-विज्ञान के अध्याय में किया गया है।

भाषा के परिवर्तन में प्रयत्न लाघव, समीकरण, विषमीकरण आदि का आधार मनोविज्ञान ही है। अर्थज्ञान की प्रक्रिया का पूरा विषय मनोविज्ञान से सम्बद्ध है। मनुष्य क्या समझता है? क्यों समझता है? प्रत्येक व्यक्ति के समझने में अन्तर क्यों है? इत्यादि भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध विषय मनोविज्ञान के ही विषय हैं। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी मनोविज्ञान का उपकारक है। मानस-चिकित्सा में भाषा-विज्ञान की

उपयोगिता प्रमाणित हो चुकी है। भाषा-विज्ञान के द्वारा मानसिक रोगों का सूक्ष्म परीक्षण और उपचार प्रस्तुत किया जाता है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानी फ्रॉयड (Freud) ने आदिम जाति के संस्कारों का पता लगाते हुए टोटम (Totem, सम्बन्धी सूचक चिह्न), टाबू (Taboo, त्याज्य कर्म) आदि शब्दों का अर्थ भाषा-विज्ञान के द्वारा ही निर्धारित किया है। इसप्रकार दोनों विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं।

(घ) भाषा-विज्ञान और भौतिक विज्ञान

भौतिक-विज्ञान भाषा-विज्ञान के अध्ययन में एक अत्यन्त सहायक अंग है। भाषा का सम्बन्ध वक्ता और श्रोता से है। वक्ता जो कुछ बोलता है, वह श्रोता तक कैसे पहुँचता है और श्रोता कैसे उसे ग्रहण करता है, यह भौतिकी का विषय है। ध्वनि, कम्पन, सम्प्रेषण, ग्रहण, तार, मन्द्र, आरोह-अवरोह, ध्वनि तरंगें आदि का अध्ययन विस्तृत रूप से भौतिक विज्ञान में किया जाता है। भाषा-विज्ञान का एक प्रमुख अंग ध्वनि-विज्ञान वस्तुतः भौतिकी पर निर्भर है। भौतिकी के विभिन्न यन्त्रों पैलेटोग्राफ (Palatograph), काइमोग्राफ (Kymograph), ऑसिलोग्राफ (Oscillograph), इंकवाइटर (Inkwriter), मिंगोग्राफ (Mingograph), क्रोमोग्राफ (Chromograph), स्पेक्टोग्राफ (Spectrograph), स्पीच स्ट्रेचर (Speech-stretcher), पैटर्न प्ले बैक (Pattern Play Back), फॉर्मैण्ट ग्राफिक मशीन (Formant graphic machine) आदि की सहायता से भाषा की ध्वनियों, ध्वनि तरंगों, आदि का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है। भाषाशास्त्री के लिए भौतिकी का गहन अध्ययन अनिवार्य न होने पर भी सम्बद्ध विषय का भौतिकी से ही ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

भौतिकी ने सिद्ध किया है कि ईथर (Ether) नाम का तत्त्व ही ध्वनि तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है। इसी के माध्यम से वक्ता श्रोता तक अपने विचारों को पहुँचाता है। यही तत्त्व है, जो रेडियो आदि के माध्यम से सहस्रों मील दूर उच्चरित भाषण, संगीत या ध्वनियों को हमारे पास पहुँचाता है। ध्वनि संचरण की पूरी प्रक्रिया भौतिकी द्वारा ही ग्राह्य है। इसप्रकार भाषा-विज्ञान और भौतिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(ड) भाषा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान

भाषा-विज्ञान की ध्वनि-प्रक्रिया को ठीक समझने के लिए शरीर-विज्ञान का ज्ञान अनिवार्य है। ध्वनि-विज्ञान की पूरी प्रक्रिया का आधार विचारों के उद्गम से लेकर विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण तक है। ध्वनियों के उच्चारण में वागिन्द्रिय के कण्ठ आदि अवयव विशेष सहायक हैं। ध्वनियों के उच्चारण के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि मूल रूप में यह ठीक समझ लिया जाये कि किन-किन ध्वनियों का किस प्रकार उच्चारण होता है। ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्री, कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि का क्या उपयोग है, इसको ठीक समझने के लिए शरीर-रचना का ज्ञान अनिवार्य है। शरीर रचना का विशिष्ट ज्ञान शरीर-विज्ञान के द्वारा होता है।

भाषा-विज्ञान का आधार भाषा है। भाषा के लिए दो पक्षों या दो व्यक्तियों की कम से कम आवश्यकता होती है एक वक्ता और दूसरा श्रोता। वक्ता कुछ बोलता है और श्रोता कुछ सुनता है। इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वागिन्द्रियों की सहायता से वक्ता ने कुछ कहा। वह वक्तव्य ध्वनि-तरंगों की सहायता से श्रोता तक पहुँचता है। श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय उसे ग्रहण करती है। वह उसे मन तक पहुँचाती है, जो उसकी सार्थकता आदि का निर्णय करके तदनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। इसप्रकार ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन के लिए (1) वक्ता की ध्वनि, (2) ध्वनि तरंगें और (3) श्रोता द्वारा ग्रहण, इन तीन प्रक्रियाओं का ज्ञान आवश्यक होता है। ध्वनि-विज्ञान के दो पक्ष हैं-रचना-पक्ष और बोध-पक्ष। रचना-पक्ष का आधार वक्ता है और बोध-पक्ष का आधार श्रोता। रचना-पक्ष के ज्ञान के लिए वागिन्द्रियों की रचना का ज्ञान आवश्यक है और बोध-पक्ष के ज्ञान के लिए श्रोत्रेन्द्रिय की रचना का। शरीर-विज्ञान के ज्ञान से ही इन दोनों पक्षों का ज्ञान सम्भव है। शरीर विज्ञान के ज्ञान से ही यह समझना सम्भव है, कि तार, मध्य, मन्द्र, आरोह, अवरोह, संगीतात्मक ध्वनि, बलाघात आदि के क्या कारण हैं?

मुख-सुख या प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति शब्दों के रूप-परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका अपनाती है। इस मुख-सुख की प्रवृत्ति की प्रकृति और कारणों पर शरीर विज्ञान के द्वारा ही प्रकाश पड़ता है।

वागिन्द्रिय के अवयव जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, फेफड़े आदि यद्यपि मुख्य रूप से भोजन, श्वास-प्रश्वास आदि कार्यों से सम्बद्ध हैं, परन्तु इनकी सहायता से समस्त संसार की आश्रयभूत भाषा जैसी दिव्य शक्ति उदय होती है। इसप्रकार शरीर-विज्ञान भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

(च) भाषा-विज्ञान और इतिहास

भाषा-विज्ञान और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के उपकारक हैं। कहीं पर भाषा-विज्ञान की सहायता से प्राचीन अभिलेखों, शिलालेखों, सिक्कों आदि का अध्ययन करके प्राचीन इतिहास के अज्ञात और अंधकारयुगीन इतिहास पर प्रकाश डाला जाता है और कहीं पर इतिहास की सहायता से शब्दों के अर्थों का निर्णय किया जाता है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का आधार ही इतिहास है। शब्दों और अर्थों में किस प्रकार परिवर्तन आया, वह इतिहास ही बताता है। इसी प्रकार भाषाओं के ऐतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण में इतिहास का महत्वपूर्ण योगदान है। इतिहास के तीनों अंगों का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध है।

1. **राजनीतिक इतिहास** यह बताता है कि किस प्रकार शासकों की भाषा का शासित देश में प्रचार होता है। इसके द्वारा हम भारत में अरबी, फारसी, अंग्रेजी, तुर्की और पुर्तगाली आदि शब्दों के आगमन का इतिहास बता सकते हैं। पूर्वी द्वीप समूहों में संस्कृत के शब्दों की अधिकता का कारण भी इसके द्वारा समझा जा सकता है।

2. **धार्मिक इतिहास** धर्म या सम्प्रदाय पर आश्रित भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उत्तर देता है। जैसे- भारत में हिन्दी-उर्दू-समस्या, हिन्दुओं की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता और मुसलमानों की भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों की अधिकता। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से ही धर्म के प्राचीन रूप का ज्ञान होता है।

3. **सामाजिक इतिहास** समाज में प्रचलित परम्पराएँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं, यह सामाजिक इतिहास के द्वारा ही ज्ञात होता है। जिस प्रकार भारतीय भाषाओं में माता-पिता आदि के अतिरिक्त जीजा-जीजी, साला-साली, चाचा-चाची, नाना-नानी, दादा, मौसा, फूफा आदि शब्दों की अधिकता है, उसी प्रकार विदेशी भाषाओं में इतने सम्बन्ध-बोधक शब्दों का अभाव पाया जाता है। अंग्रेजी का

Brother-in-law शब्द जीजा, साला आदि अनेक शब्दों के लिए प्रयुक्त होता है। इसप्रकार इतिहास अनेक रूप में भाषा-विज्ञान का सहयोगी है।

(छ) भाषा-विज्ञान और भूगोल

भाषा-विज्ञान का भूगोल से निकट सम्पर्क है। भूगोल कई रूपों में भाषा-विज्ञान की सहायता करता है-

1. भौगोलिक परिस्थितियों का वहाँ के निवासियों पर प्रभाव पड़ता है। अतः भौगोलिक आधार पर उच्चारण में भी अन्तर पाया जाता है। शीतप्रधान देशों में शीत के कारण मुँह कम खोलने के अभ्यास के कारण उच्चारणों में अस्पष्टता रहती है। श-स ध्वनियों में अन्तर का अभाव होता है, आदि। उष्ण देशों में सरलता से मुँह खोलने के कारण उच्चारणों में अधिक स्पष्टता और ध्वनियों की अधिकता रहती है।

2. विश्व की सहस्रों भाषाओं के सीमा-निर्धारण में भूगोल की सहायता ली जाती है। भौगोलिक ज्ञान से ही प्रत्येक भाषा का सीमा निर्धारण होता है। जिन सीमावर्ती स्थानों पर दो या तीन विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, वहाँ पर भूगोल के साथ ही भाषा-वैज्ञानिक साधनों को भी अपनाया जाता है। जिस भाषा-तत्त्व की वहाँ प्रमुखता होती है, उसके आधार पर उस क्षेत्र को किसी विशिष्ट भाषा के अन्तर्गत घोषित किया जाता है।

3. भौगोलिक पदार्थों के ज्ञान में भी भूगोल की आवश्यकता पड़ती है। वृक्ष, वनस्पति, नदी, पर्वत, प्रदेश, देश, द्वीप, महाद्वीप आदि के यथार्थ ज्ञान के लिए भूगोल की ही सहायता ली जाती है। सोमलता, सैन्धव (घोड़ा, नमक), उष्ट्र (ऊँट, भैंसा), कश्मीरज (केसर), अरब देश (अरब) आदि शब्दों के अर्थ के ज्ञान के लिए भूगोल की सहायता आवश्यक है।

4. भाषा-विज्ञान की एक शाखा की भाषा भूगोल पर ही पूर्णतया निर्भर है।

5. किसी भाषा का कम या अधिक विस्तार भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर है। समस्थलों की भाषा अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैलती है और विषम पर्वत आदि से युक्त स्थलों की भाषा अल्प क्षेत्र तक सीमित रहती है।

6. भाषाओं में परिवर्तन का आधार भी भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं। समस्थलों की भाषा में परिवर्तन की अधिक संभावना रहती है और ऐसी भाषाओं में परिवर्तन अधिक दृष्टिगोचर होता है। विषमस्थलों की भाषा में परिवर्तन कम होता है। उनमें स्थिरता अधिक रहती है। भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही उच्च जर्मन (High German) और निम्न जर्मन (Low German) में ध्वनि-परिवर्तनों का कारण सरलता से समझा जा सकता है।

(ज) भाषा-विज्ञान और दर्शन

भाषा-विज्ञान का दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान का अर्थ-विज्ञान विशेष रूप से दर्शन-शास्त्र से सम्बद्ध है। विश्व के प्रायः सभी देशों में शब्द और अर्थ के चिन्तन का प्रारम्भ दार्शनिकों ने ही किया है। शब्द का क्या स्वरूप है? अर्थ क्या है? शब्दशक्तियाँ क्या और कितनी हैं? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है या नहीं? भाषा का मूल तत्त्व, पद है या वाक्य? आदि प्रश्नों पर भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने ही सर्वप्रथम चिन्तन किया है। यूरोप में भाषा-विषयक विवेचन दर्शन से ही प्रारम्भ हुआ है। यूनानी दार्शनिकों ने भाषा विषयक विवेचन किया है। भारत में वैदिक वाङ्मय में भाषा-विषयक विवेचन मूल रूप में प्राप्त होता है। इसका विकास दर्शन ग्रन्थों में, विशेष रूप से भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में प्राप्त होता है। वैयाकरणों का स्फोटवाद, मीमांसकों का शब्द-नित्यतावाद, नैयायिकों का जातिवाद, बौद्धों का अपोहवाद, पदवादी भाट्टों का अभिहितान्वयवाद, वाक्यवादी प्राभाकरों का अन्विताभिधानवाद आदि सिद्धान्तों का आधार दर्शन ही है। ऋग्वेद में 'चत्वारि वाक्..' के द्वारा परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी आदि चार विभाग बनाये हैं। ये दर्शन पर ही आश्रित हैं। दर्शनशास्त्र ने अर्थ-तत्त्व पर अधिक विवेचन किया है। इसके विपरीत तन्त्र ग्रन्थों में शब्द पर विवेचन किया गया है। कतिपय भाषाशास्त्री भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंग, अर्थ-विज्ञान को दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। वे भाषाविज्ञान में अर्थ-विज्ञान को स्थान देना उचित नहीं समझते हैं। उपर्युक्त विषयों में से कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको पूर्णरूप से भाषा-विज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता है, तथापि ये विषय अंशतः

भाषा-विज्ञान से अवश्य सम्बद्ध है। अतः भाषा-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(इ) भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र

भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र का बहुत अधिक सम्बन्ध न होने पर भी तर्कशास्त्र का उपयोग भाषा-विज्ञान में होता है। तर्कशास्त्र का प्रधान नियम कारण-कार्य-भाव भाषा-विज्ञान की समस्याओं को सुलझाने में सहायक होता है। भाषा में परिवर्तन, अर्थों में परिवर्तन, वाक्यविन्यास में परिवर्तन आदि के कारण की जिज्ञासा तर्कशास्त्र के आधार पर ही होती है। इसी तर्कशास्त्रीय प्रवृत्ति के कारण भाषा की उत्पत्ति, विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारणों का अनुसंधान किया जाता है। तर्कशास्त्र की अन्वय व्यतिरेक पद्धति भाषा-विज्ञान के लिए भी उतनी ही उपादेय है।

(ज) भाषा-विज्ञान और मानव-विज्ञान

भाषा-विज्ञान मानव-विज्ञान से भी सम्बद्ध है। मानव-विज्ञान, मानव के विकास का अध्ययन करता है। मानव का सभ्यता, संस्कृति, कला, विज्ञान आदि की दृष्टि से किस प्रकार विकास हुआ, इसका विवेचन करता है। संस्कृतियाँ, धार्मिक विश्वास, अंध-विश्वास, परम्पराएँ, धर्म, पर्व आदि का कैसे विकास हुआ और इनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए, इसका अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा मानव की भावाभिव्यक्ति का प्रधान साधन है, अतः विकास के सभी स्तर भाषा के माध्यम से ज्ञात होते हैं। अर्थ-विकास, अर्थ-संकोच और अर्थदिश की प्रक्रिया का ज्ञान मानव-विज्ञान की सहायता से सरलता से होता है। मानव-विज्ञान की सहायता से भाषा के आदिम स्वरूप का पता लगाया जाता है। विविध संस्कृतियाँ भाषा को किस प्रकार प्रभावित करती हैं, इसमें मानव-विज्ञान भाषा-विज्ञान का सहायक है। किस प्रकार अशुभ, अमंगल-वाचक या घृणा-वाचक शब्दों के लिए शुभ शब्दों का प्रयोग किया जाता है, यह मानव-विज्ञान ही बताता है। यथा-चेचक के लिए 'माता', मृत शरीर के लिए 'मिट्टी', विष्ठा के लिए 'शौच', टट्टी, दिशा आदि शब्द, अंधे के लिए सूरदास या प्रज्ञाचक्षु, सर्प के लिए कीड़ा आदि। इसप्रकार भाषा-विज्ञान मानव विज्ञान से सम्बद्ध है।

(ट) भाषा-विज्ञान और समाज-विज्ञान

भाषा सामाजिक वस्तु है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ ही भाषा में भी परिवर्तन और विकास होता है। समाज विज्ञान में मानव के आचार-विचार, आहार-व्यवहार आदि का विवेचन होता है। भाषा में रीति-रिवाज, शिष्टाचार, आचार-विचार और व्यवहार के सैकड़ों शब्द हैं, जिनकी व्याख्या समाज-विज्ञान के ज्ञान से ही सरलता से हो सकती है। समाज-विज्ञान की सहायता से ही यह बताया जा सकता है कि कैसे विकास या ह्रास के कारण शब्दों के रूप परिवर्तित हुए और अर्थ-परिवर्तन हुआ। जैसे- उपाध्याय>ओझा या झा, चतुर्वेदी>चौबे, त्रिवेदी>तिवारी, द्विवेदी>दूबे, शुक्ल>शुक्ला या सुकुल आदि शब्द मूल रूप में योग्यता-वाचक थे, बाद में जाति-वाचक हो गये। किस प्रकार धार्मिक विद्वेष के कारण अशोक का 'देवानां प्रियः', 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे', मूर्खवाचक हो गया। दास, दस्यु, अनार्य, काफिर, फिरंगी आदि शब्दों के पीछे इतिहास भरा हुआ है, जो समाज-विज्ञान से ही जाना जा सकता है। इसी प्रकार काव्यशास्त्र, गणित, यांत्रिकी और सांख्यिकी आदि से भी भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है।

1.4 भाषाओं का वर्गीकरण (Classification of Languages)

परिवाराऽऽकृतेर्भिन्नाः, विश्वभाषा द्विधा मताः।

द्विधा चाऽऽकृतिमूलास्ताः, योगाऽयोग-प्रभेदतः॥१॥

अयोगो भेद एकस्तु, त्रिधा योगात्मको मतः।

श्लिष्टाऽश्लिष्ट-प्रश्लिष्टाश्च, प्रकृति-प्रत्ययात्मकाः ॥२॥

विश्व की भाषाओं के दो प्रकार के वर्गीकरण हैं- आकृतिमूलक और पारिवारिक। आकृतिमूलक वर्गीकरण के दो भेद हैं- योगात्मक और अयोगात्मक। अयोगात्मक भेद एक ही प्रकार का है। योगात्मक के तीन भेद हैं- श्लिष्ट (Inflecting), अश्लिष्ट (Agglutinating), प्रश्लिष्ट (Incorporating)। योगात्मक भाषाएँ प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बनी हुई होती हैं।

विश्व की भाषाएँ :

विश्व में कितनी भाषाएँ बोलो जाती हैं, यह प्रायः अनुमान का विषय है। कुछ विद्वानों ने गणना करके इनकी संख्या 2766 बताई है। इस संख्या को आनुमानिक रूप

से 3000 माना जा सकता है। इसमें विश्व की सभी भाषाओं और बोलियों का संग्रह है। वास्तविकता यह है कि विश्व की भाषाओं और बोलियों की संख्या निश्चित रूप से बताना प्रायः असंभव है, क्योंकि संसार में आज तक ऐसा कोई विद्वान् या भाषाशास्त्री उत्पन्न नहीं हुआ है, जो विश्व की सभी भाषाओं की रूपरेखा भी जानता हो। उनमें विशेषज्ञता, भेद, उपभेद का ज्ञान, तो और भी दुर्लभ है। विश्व के बहुत योग्य भाषाशास्त्रियों को भी अधिक से अधिक 8-10 भाषाओं का विशेष ज्ञान होता है।

1.4.0 विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण का आधार :

वर्गीकरण से विषय का सूक्ष्मता से ज्ञान होता है और उसके समझने में सरलता होती है। भाषाविज्ञान में विश्वभाषाओं के दो प्रकार से वर्गीकरण किए गए हैं-

1. आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)
2. पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification)

1. आकृतिमूलक वर्गीकरण- आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार है- पदों और वाक्यों की रचना। पद किस प्रकार बनते हैं और वाक्यों की रचना किस प्रकार होती है, इस आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण को आकृतिमूलक कहते हैं। Morph (मार्फ-पद), Morphology (मार्फोलॉजी-पदरचना) पर आश्रित होने से इसे Morphological Classification (पदरचनात्मक वर्गीकरण) कहते हैं। इस वर्गीकरण Syntax (सिन्टैक्स-वाक्यरचना) के आधार पर होने से Syntactical (वाक्य-रचनात्मक) और Type (टाइप-रूप) के आधार पर होने से Typical (टिपिकल रूपात्मक) भी कहते हैं।

जिन भाषाओं में आकृति (आकार, पदरचना और वाक्यरचना) की दृष्टि से समानता होती है, उन्हें एक वर्ग में रखा जाता है। आकृति-मूलक वर्गीकरण में रचना-तत्त्व की मुख्यता रहती है। इसमें शब्द के बाह्यरूप पर ध्यान दिया जाता है।

2. पारिवारिक वर्गीकरण- पारिवारिक वर्गीकरण में रचनातत्त्व के साथ ही अर्थतत्त्व पर भी ध्यान दिया जाता है। जिन भाषाओं में रचना साम्य के साथ ही अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से भी समानता होती है, उन्हें एक पारिवारिक वर्ग में रखा जाता है।

दोनों वर्गीकरण में मुख्य अन्तर यह है कि आकृतिमूलक में शब्दतत्त्व और रचना-तत्त्व मुख्य हैं। इसमें अर्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता। पारिवारिक वर्गीकरण में

रचना-तत्त्व के साथ ही अर्थ साम्य या अर्थतत्त्व पर ध्यान रखना अनिवार्य है। इस प्रकार दोनों का भेद है-

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण में शब्द प्रधान एवं रचनातत्त्व मुख्य होता है।

(ख) पारिवारिक वर्गीकरण में अर्थ-प्रधान, रचना-तत्त्व एवं अर्थतत्त्व मुख्य होता है।

पारिवारिक वर्गीकरण को वंशानुक्रम पर आधारित होने से Genealogical (वंशानुक्रमिक) और भूगोल एवं इतिहास पर निर्भर होने से Historical (ऐतिहासिक) कहते हैं। एक परिवार, एक भौगोलिक क्षेत्र में फैला होता है।

इस वर्गीकरण का श्रेय प्रो. श्लेगल (F.Schlegel) को है। उन्होंने सर्वप्रथम भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा था। प्रो. बोप (F.Bopp) ने तीन वर्ग किए। ग्रिम (Grimm) और श्लाइशर (Schleicher) ने भी तीन वर्गों को प्रकारान्तर से माना। पॉट (A. F. Pott) ने इनके चार वर्ग बनाए। वास्तविक रूप में भाषाओं के 2 वर्ग बनते हैं 1. अयोगात्मक, तथा 2. योगात्मक।

1.4.1 भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)

अब यहां सर्वप्रथम आकृतिमूलक वर्गीकरण को विस्तार से समझते हैं। आकृतिमूलक वर्गीकरण मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा जाता है- 1. अयोगात्मक, 2. योगात्मक।

1. अयोगात्मक भाषाएँ- (Isolating or Root Languages)- अयोगात्मक उन भाषाओं को कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय या अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग नहीं होता है। प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है। प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र या अलग सत्ता होने से इसे Isolating (पृथक्) कहते हैं। इसमें प्रत्येक शब्द प्रकृति या मूल के तुल्य होता है, अतः इसे Root (धातु, मूल) Language कहते हैं। इन भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय जैसी कोई चीज नहीं होती। ये भाषाएँ 'स्थान प्रधान' हैं। भाषा में कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का स्थान निश्चित होता है। एक ही शब्द स्थान-भेद से कर्ता, क्रिया या कर्म हो सकता है। इसको Positional (स्थान-प्रधान), Inorganic (निरवयव) भी कहा जाता है।

इस वर्ग की मुख्य प्रतिनिधि भाषा 'चीनी' है। इसके अतिरिक्त स्यामी, तिब्बती, बर्मी, अनामी, सूडानी (अफ्रीका के सूडान देश की भाषा) आदि भाषाएँ इस वर्ग में हैं।

अयोगात्मक भाषाओं की विशेषताएँ -

- (1) इन भाषाओं का व्याकरण नहीं होता।
- (2) शब्दक्रम या पदक्रम का विशेष महत्त्व होता है।
- (3) स्वर (सुर, Tone, लहजा) के भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।
- (4) निपात (Particle, सम्बन्धसूचक अव्यय) से भी शब्द-रचना और वाक्य-रचना में सहायता ली जाती है।
- (5) शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। सम्बन्धतत्त्व लगने पर अन्तर नहीं आता।
- (6) सम्बन्धतत्त्व का बोध सम्बन्धतत्त्व बोधक शब्दों को लगाकर या स्थान-
- (ग) अयोगात्मक भाषाओं की निजी विशेषताएँ -
 - (1) चीनी भाषा-स्थान और स्वर-प्रधान।
 - (2) सूडानी स्थान प्रधान
 - (3) अनामी स्वर-प्रधान।
- (घ) शब्द-निर्माण एवं वाक्य-रचना -
 - (4) बर्मी, स्यामी, तिब्बती निपात प्रधान।

2. योगात्मक भाषाएँ (Agglutinative Languages)- योगात्मक भाषाएँ उनको कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्यय या अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग रहता है। प्रकृति (अर्थतत्त्व) और प्रत्यय (सम्बन्ध तत्त्व) का संयोग विभिन्न प्रकार से हो सकता है, अतः योगात्मक भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है-

- (क) अश्लिष्ट (प्रत्यय-प्रधान) भाषाएँ (Agglutinative languages)
- (ख) श्लिष्ट (विभक्ति-प्रधान) भाषाएँ (Inflectional languages)
- (ग) प्रश्लिष्ट (समास-प्रधान) भाषाएँ (Incorporative languages)

(क) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ- अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय इस प्रकार जुड़े हुए होते हैं कि दोनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इस प्रकार के जोड़ को 'तिल-तण्डुल-न्याय' (तिल और चावल की तरह) कह सकते हैं। मिले हुए तिल-चावल में तिल और चावल अलग-अलग दिखाई देते हैं। इसके चार भाग किए गए हैं-

1. पूर्वयोगात्मक - जहाँ प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व प्रकृति से पहले लगता है।
2. मध्ययोगात्मक - जहाँ प्रत्यय प्रकृति के बीच में जोड़ा जाता है।
3. अन्तयोगात्मक - जहाँ प्रत्यय प्रकृति के अन्त में जोड़ा जाता है।
4. पूर्वान्त योगात्मक - जहाँ प्रत्यय प्रकृति के पहले और अन्त में जुड़ता है।

(ख) श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ- श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय घनिष्ठता से मिले होते हैं। दोनों इस प्रकार मिले होते हैं कि प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग बताना संभव नहीं होता है। प्रत्यय की झलक अवश्य रहती है। ऐसे संयोग को 'नीर-क्षीर-न्याय' (दूध-पानी की तरह मिलना) कह सकते हैं। प्रकृति और प्रत्यय के घनिष्ठता से मिलने से प्रकृति (अर्थतत्त्व) में कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसके दो भाग किए गए हैं और उनमें भी प्रत्येक के दो-दो भाग हैं-

(1) अन्तर्मुखी श्लिष्ट- इसमें प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) के बीच में घुलमिल कर रम जाते हैं। इसके दो भेद हैं- (क) संयोगात्मक (Synthetic)- जिनमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। (ख) वियोगात्मक (Analytic)- जिनमें शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व लगाए जाते हैं।

(2) बहिर्मुखी श्लिष्ट- इसमें प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) के बाद में या अन्त में लगते हैं। भारोपीय भाषाएँ संस्कृत आदि इसी कोटि में आती हैं। इसके भी दो भेद हैं- (क) संयोगात्मक- जिसमें सम्बन्धतत्त्व प्रकृति (अर्थतत्त्व) के साथ जुड़ा होता है। जैसे- संस्कृत के सुप्, तिङ् आदि।

(ख) वियोगात्मक- जिसमें सम्बन्धतत्त्वं प्रकृति से अलग लगाया जाता है। जैसे- हिन्दी आदि में कारक चिह्न, सहायक क्रिया आदि।

(ग) प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ- प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिले होते हैं कि दोनों को न अलग पहचाना जा सकता

है और न दोनों को एक-दूसरे से अलग ही किया जा सकता है। इस संयोग को 'दधि-घृत-न्याय' (दही में घी की तरह मिले हुए) कह सकते हैं। इसके दो भेद किए गए हैं-

(1) पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक- इसमें अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का इतना अधिक घनिष्ठ मेल हो जाता है कि पूरे वाक्य का प्रायः एक शब्द बन जाता है। वह एक शब्द पूरे वाक्य का अर्थ देता है। इसमें आने वाले शब्दों का कुछ-कुछ अंश लेकर एक ऐसा शब्द बना दिया जाता है, जिसमें सभी शब्दों का थोड़ा प्रतिनिधित्व रहता है। यह शब्द वाक्य के तुल्य व्यवहृत होता है। इसे 'पूर्ण समास-प्रधान' भी कहते हैं।

(2) आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक- इसमें सर्वनाम और क्रिया इस प्रकार मिल जाती है कि क्रिया का स्वरूप नगण्य हो जाता है और वह सर्वनाम की पूरक हो जाती है। इसमें वाक्य के सभी अवयव संज्ञा, विशेषण आदि भी सम्मिलित नहीं होते, इसलिए इसे 'आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक' कहते हैं। इसे 'अंशतः समास-प्रधान' भी कहते हैं।

इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण को चार वर्गों में प्रस्तुत किया जाता है-

1. अयोगात्मक (स्वतन्त्र शब्दात्मक) भाषाएँ (Isolating language)
2. अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय प्रधान) भाषाएँ (Agglutinative languages)
3. श्लिष्ट योगात्मक (विभक्ति-प्रधान) भाषाएँ (Inflectional languages)
4. प्रश्लिष्ट योगात्मक (समास-प्रधान) भाषाएँ (Incorporative languages)

आकृति की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी

आकृतिमूलकता की दृष्टि से विचार करते हुए ऊपर उल्लेख किया गया है कि 'संस्कृत' भाषा श्लिष्ट योगात्मक (बहिर्मुखी) (Synthetic Inflectional) है। भाषाओं की मूल प्रकृति संयोगात्मक या योगात्मक (Synthetic) थी। प्रकृति-प्रत्यय के समन्वित रूप से अर्थ का बोध कराया जाता था। यह प्रवृत्ति हमें संस्कृत के साथ ही ग्रीक, लैटिन आदि में भी मिलती है। विकास क्रम का नियम है विकिरण (विस्तार, विश्लेषण, विभाजन)। इसी नियम के कारण संयोगात्मक भाषाएँ वियोगात्मकता की ओर अग्रसर हुईं। अर्थबोध में सरलता लाने के लिए सम्बन्धतत्त्व को स्वतन्त्र रूप दिया गया। इससे संयोगात्मक (Synthetic) भाषाएँ वियोगात्मक (Analytic) हो गईं। संस्कृत के कारक

चिह्न हिन्दी में वियोगात्मक होकर परसर्ग (को, ने, से आदि) हो गये। काल आदि के चिह्न सहायक क्रिया (है, हो, रहा, था, गा आदि) के रूप में प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार अंग्रेजी भी श्लिष्ट वियोगात्मक (Analytic Inflectional) हो गई है। लैटिन से विकसित फ्रेंच में भी वियोगात्मकता पाई जाती है।

कुछ भाषाशास्त्रियों ने तर्क प्रस्तुत किया है कि भाषाएँ योगात्मक से वियोगात्मक होती हैं और वियोगात्मक से योगात्मक। यह कालचक्र चलता रहता है। भाषाओं के इतिहास पर दृष्टिपात न करने पर ऐसा कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि संयोगात्मक से भाषाएँ वियोगात्मक होती हैं। वियोगात्मक से संयोगात्मक नहीं। विकास में विश्लेषण ही होगा, संश्लेषण नहीं। संयुक्त परिवार बिखर कर फिर एक होंगे। यह कल्पना करना निरर्थक एवं असार है कि बिखरे परिवार कभी फिर संयुक्त परिवार होंगे। इसी प्रकार भाषाएँ वियोगात्मक से संयोगात्मक होंगी, यह कल्पना केवल बुद्धिभ्रम है।

1.4.2 आकृतिमूलक वर्गीकरण की उपयोगिता

आकृतिमूलक वर्गीकरण को भाषाशास्त्रियों ने प्रारम्भ में बहुत महत्त्व दिया, परन्तु अब इसका महत्त्व कम होता जा रहा है। इसकी उपयोगिता है—

1. विश्वभाषाओं के स्वरूप का ज्ञान। उनका विशिष्ट वर्गीकरण।
2. विश्वभाषाओं की रचना का सरल और सुस्पष्ट ज्ञान।
3. सम्बन्ध-तत्त्वों की प्रकृति (स्वभाव) का ज्ञान। उसके योगात्मक रूप का ज्ञान।
4. विभिन्न भाषाओं के व्याकरण का ज्ञान।
5. विभिन्न भाषाओं के व्याकरण में साम्य और वैषम्य का अध्ययन।
6. विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन।

1.4.3 आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा

भाषाशास्त्रियों ने आकृतिमूलक वर्गीकरण की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने ये न्यूनताएँ बताई हैं—

1. विश्व की भाषाओं को केवल 4 भागों में बाँटना युक्तिसंगत नहीं है। इसमें कुछ असंबद्ध भाषाओं को भी एक कोटि या वर्ग में रखा है। जैसे संस्कृत और द्रविड़ भाषाएँ। ये सर्वथा असंबद्ध हैं। ये विभिन्न परिवारों की हैं।

2. इस वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है।
3. कोई भाषा किसी वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अन्य वर्गों के भी लक्षण उसमें मिलते हैं। संस्कृत में अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट सभी के गुण मिलते हैं। जैसे- मधुरता, करोति, चिकीर्षति, आर्जव, वरीवर्ति आदि।
4. विश्व की भाषाओं का अभी तक पूर्ण अध्ययन ही नहीं हुआ है, अतः यह वर्गीकरण अपूर्ण है।
5. हजारों भाषाओं को 4 बिरादरी से बैठा देना, कहाँ तक उचित है? कुछ तो एक-दूसरे के पास भी नहीं फटकतीं। रूपभेद, अर्थभेद आदि सभी भेद उनमें हैं।

1.5 भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification of Languages)

विश्व की भाषाओं के परिवारों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। जर्मन विद्वान् विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) ने इनकी संख्या 13 मानी है। फ्रीड्रिच म्यूलर (Friedrich Muller) आदि विद्वान् इनकी संख्या 100 के लगभग मानते हैं। भारतीय विद्वान् इनकी संख्या 10 से 18 तक मानते हैं। निर्विवाद रूप से स्वीकृत प्रमुख 18 भाषा-परिवारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है-

(क) यूरेशिया (यूरोप-एशिया) भूखण्ड

- (1) भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार (Indo-European Family)
- (2) द्राविड़ परिवार (Dravidian Family)
- (3) बुरुशस्की परिवार (Burushaski Family)
- (4) काकेशी परिवार (Caucasian Family)
- (5) यूराल-अल्ताई परिवार (Ural&Altai Family)
- (6) चीनी परिवार (Chinese Family)
- (7) जापानी-कोरियाई परिवार (Japanese-Korean Family)
- (8) अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार (Hyperborean Family)
- (9) बास्क परिवार (Basqu Family)

(10) सामी-हामी परिवार (Semitic-Hamitic Family) (यह अफ्रीका महाद्वीप में भी आता है)

(ख) अफ्रीका भूखण्ड

(11) सूडानी परिवार (Sudan Family)

(12) बान्तू परिवार (Bantu Family)

(13) होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार (Hottentot&Bushman Family)

(ग) प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड

(14) मलय-पोलिनेशियाई परिवार (Malay-Polynesian Family)

(15) पापुई परिवार (Papuan Family)

(16) आस्ट्रेलियन परिवार (Australian Family)

(17) दक्षिण-पूर्व एशियाई परिवार (Austro-Asiatic Family)

(घ) अमेरिका भूखण्ड

(18) अमेरिकी परिवार (American Family)

पारिवारिक वर्गीकरण का स्वरूप :

आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण में अन्तर- आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण में मुख्य अन्तर यह है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण में केवल रचना-तत्त्व या आकृति को आधार माना जाता है। शब्द और वाक्य किस प्रकार बनते हैं, इसके आधार पर ही आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। इसमें अर्थतत्त्व पर ध्यान नहीं दिया जाता है। पारिवारिक वर्गीकरण में रचना-तत्त्व के साथ ही अर्थतत्त्व का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण में अर्थतत्त्व, संबन्धतत्त्व (रचनातत्त्व या रूपतत्त्व) दोनों पर ध्यान रखा जाता है।

पारिवारिक वर्गीकरण को ऐतिहासिक वर्गीकरण (Historical Classification) भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस वर्गीकरण में भाषा के इतिहास को भी आधार बनाया जाता है। किस भाषा से कौन सी भाषा या विभाषा का जन्म हुआ? इस

आधार पर एक भाषा से उत्पन्न सभी भाषाएँ और विभाषाएँ एक परिवार में रखी जाएँगी।

वर्गीकरण

आधार

1. आकृतिमूलक

आकृति या रचनातत्त्व

2. पारिवारिक (एतिहासिक)

अर्थतत्त्व + रचनातत्त्व (सम्बन्धतत्त्व)

भाषा-परिवार- मानव जाति का इतिहास बताता है कि मानव जाति अपने मूल पुरुष की कल्पना करती है। आर्य एवं हिन्दू अपना मूल पुरुष श्मनुष को मानते हैं, ईसाई और मुसलमान श्आदमश को। इसी आधार पर मनुष्य को श्मानवश और श्आदमीश कहा जाता है। आगे चलकर इनसे विविध वंश या परिवार बनते हैं। एक वंश में उत्पन्न होने वाले सवंशीय, सगोत्र या सजातीय होते हैं। यही स्थिति भाषा की भी है। एक वंश से उत्पन्न भाषाओं को एक परिवार में रखा जाता है। एक परिवार के आधार पर वंश में माता-पुत्री, बहिन आदि नाम दिए जाते हैं। भाषा में इस प्रकार का जन्म नहीं होता है। एक भाषा से दूसरी भाषा या विभाषा विकसित होती है। लाक्षणिक, गौण या आलंकारिक रूप में इस भाषा को पूर्ववर्ती भाषा की पुत्री कहते हैं। दो समकक्ष या समानान्तर विकसित विभाषाओं को बहिन कहते हैं। ये प्रयोग लाक्षणिक हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण के आधार :

पारिवारिक वर्गीकरण के मुख्यतया चार आधार हैं-

1. स्थान-सामीप्य (स्थान या क्षेत्र की समीपता),
2. शब्द-साम्य (शब्दावली की समानता, शब्द-अर्थ की समानता),
3. व्याकरण-साम्य (पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता),
4. ध्वनि-साम्य (प्रयुक्त ध्वनियों में समानता या एकरूपता)।

1. स्थान-सामीप्य - सामान्यतया एक परिवार की भाषाएँ स्थानीय दृष्टि से समीप होती हैं। स्थानीय समीपता के आधार पर विभिन्न भाषाओं को एक परिवार में रखने की संभावना दृढ़ होती है। जैसे- स्थानीय समीपता के आधार पर भारतीय आर्यभाषाओं हिन्दी, बिहारी, बंगला, पंजाबी, राजस्थानी आदि आती हैं। परन्तु

स्थान-सामीप्य पारिवारिक एकता का दृढ़ आधार नहीं है। कुछ भाषाएँ दूरस्थ होकर भी एक परिवार में आती हैं और कुछ समीपस्थ होकर भी भिन्न परिवार की भाषाएँ होती हैं। जैसे- दूरस्थ होकर भी अवेस्ता, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी भारोपीय परिवार में होने से संस्कृत और हिन्दी के परिवार की भाषाएँ हैं। इसके विपरीत अरबी-फारसी, मराठी-तेलुगु, मराठी-कन्नड़ आदि स्थान सामीप्य होने पर भी भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषाएँ हैं। स्थान-सामीप्य पारिवारिक एकता का संकेतक या द्योतक है। यह निर्णायक तत्त्व नहीं है।

2. शब्द-साम्य- शब्द-साम्य में विभिन्न भाषाओं में शब्दकोष या शब्दावली की समानता ग्रहण की जाती है। शब्द-साम्य में केवल शब्द की आकृति ही नहीं, अपितु उसका अर्थ भी समन्वित है। यदि दो या अधिक भाषाओं में वे ही शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तो पारिवारिक एकता की संभावना पुष्ट होती है। इस आधार पर उनका परीक्षण अग्रसर होता है।

शब्द-साम्य के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक भाषा में कुछ आधारभूत या मूल शब्द-कोष होता है। इसमें बहुत कम परिवर्तन होता है। इसमें विशेष उल्लेखनीय हैं- (1) सम्बन्ध-वाचक शब्द (माता, पिता, भाई, बहन आदि), (2) संख्यावाचक शब्द (एक, दो, तीन आदि), (3) सर्वनाम-शब्द (मैं, हम, तू, वह, वे आदि), (4) सामान्य क्रिया-शब्द (जाना, आना, खाना, पीना आदि), (5) शरीरांग-नाम (हस्त, मुख, पाद, दन्त आदि)। यदि इन आधारभूत शब्दों में शब्दार्थ-साम्य मिलता है तो विभिन्न भाषाओं के एक परिवार से संबद्ध होने की संभावना को पुष्ट आधार मिलता है। संस्कृत, फारसी, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि के शब्दों में इस प्रकार की बहुमूल्य समानता दृष्टिगोचर होती है, अतः इन्हें एक भारोपीय परिवार में रखा जाता है। जैसे-

संस्कृत	फारसी	ग्रीक	लैटिन	जर्मन	अंग्रेजी	हिन्दी
पितृ	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	पिता
भ्रातृ	बिरादर	Phrater	Frater	Bruder	Brother	भाई
सप्त	हप्त	Hepta	Septem	Sieben	Seven	सात

इन उदाहरणों से इन भाषाओं की पारिवारिक एकता की झाँकी मिलती है।

शब्द-साम्य में अपेक्षित सतर्कता- निम्नलिखित तीन सावधानियाँ अपेक्षित हैं। इन पर ध्यान न देने से भ्रम और भूल हो सकती है। ये हैं-

(क) **उधार शब्दावली-** अन्य भाषाओं से उधार लिए शब्दों के आधार पर पारिवारिक एकता नहीं मानी जा सकती है। जैसे 'चाय (चा) शब्द चीनी भाषा का है। यह हिन्दी, तुर्की (Chay), रूसी (Chai) आदि अनेक भाषाओं में सामान्य परिवर्तन के साथ प्रचलित है। इसके आधार पर पारिवारिक एकता मानना अशुद्ध होगा। अरबी के सैकड़ों शब्द तुर्की और हिन्दी भाषा में हैं। इस आधार पर इन्हें एक परिवार का नहीं माना जा सकता है।

(ख) **आकस्मिक साम्य-** विभिन्न परिवारों से संबद्ध कुछ शब्दों में आकस्मिक शब्द और अर्थ का साम्य मिलता है। इसके आधार पर वे एक परिवार के शब्द नहीं माने जाएँगे। जैसे- (1) संस्कृत 'जाल्मः' (निर्दयी, अत्याचारी) और अरबी 'जालिम' (जुल्म या अत्याचार करने वाला)। (2) अंग्रेजी- Near (समीप), भोजपुरी- नियर (समीप, निकट)। (3) संस्कृत 'सूप' (दाल), अंग्रेजी- Soup (सूप, सब्जी का रस)। (4) जर्मन- Mann (मनुष्य), कोरियाई शब्द 'मान' (मनुष्य)। इनमें आकस्मिक साम्य है।

(ग) **ध्वन्यनुकरण-मूलक-** शब्द ध्वन्यनुकरण के आधार पर बने शब्दों में प्रायः शब्दार्थ साम्य मिलता है। इसके आधार पर परिवार की एकता नहीं मानी जा सकती है। जैसे- बिल्ली के लिए हिन्दी 'म्याऊँ' और चीनी 'म्याऊँ' (बिल्ली) शब्द एकार्थक हैं।

3. व्याकरण-साम्य- व्याकरण-साम्य में मुख्य रूप से पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता आती है। यह सबसे पुष्ट और प्रामाणिक आधार है। यदि दो भाषाओं में शब्द-निर्माण और वाक्य निर्माण में समानता है तथा सम्बन्ध-तत्त्वों की समानता है तो उन्हें एक परिवार की भाषा माना जाएगा। प्रत्येक भाषा की पद-रचना और वाक्य-रचना की शैली स्वतंत्र होती है। उसमें बहुत कम परिवर्तन होता है।

व्याकरण-साम्य में विवेच्य भाषाओं को क्रियाओं और सर्वनामों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरी भाषाओं से क्रिया-शब्द, धातु और सर्वनाम बहुत कम मात्रा में लिये

जाते हैं। पद एवं वाक्य-रचना की समानता में इन बातों पर ध्यान दिया जाता है (1) धातु और प्रत्यय के मिलने का स्वरूप। (2) प्रत्यय आदि, मध्य या अन्त में किस प्रकार लगते हैं। (3) वाक्य की रचना का प्रकार समान है या नहीं।

4. ध्वनि-साम्य- दो भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों में समानता होने पर उन्हें एक परिवार की भाषा माना जाता है। यह आधार पूर्णतया निर्णायक नहीं है। एक भाषा की ध्वनियों में भी विकास-क्रम के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ (1) संस्कृत के ऋ, ऐ, औ, ष, ज्ञ आदि का मूल रूप में उच्चारण आज नहीं है। (2) भारोपीय फारसी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं में 'ज' ध्वनि है, परन्तु संस्कृत में नहीं है। (3) संस्कृत में टवर्ग ध्वनि है, पर यह अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं है। (4) संस्कृत में ङ, ढ ध्वनियाँ नहीं हैं, पर संस्कृत से विकसित हिन्दी में ये ध्वनियाँ हैं। (5) विदेशी शब्दों के साथ विदेशी ध्वनियाँ भी आ जाती हैं। जैसे- .क, ख, .ग, .ज आदि। (6) विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने में उनकी मूल ध्वनि में परिवर्तन भी कर दिया जाता है। .क, .ग, .ज आदि को केवल क, ग, ज भी लिखा जाता है। लेन्टर्न का लालटेन हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि ध्वनि-साम्य भाषाओं की पारिवारिक एकता का अत्यन्त पुष्ट आधार नहीं है। उपर्युक्त चारों आधारों में व्याकरण-साम्य सर्वोत्तम आधार है। अन्य तीनों आधार एकत्व-निर्णय में सहयोगी हैं।

1.5.0 पारिवारिक वर्गीकरण की कतिपय कमियाँ

विश्व की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण अभी तक सुपुष्ट आधार पर नहीं हो सका है, इसलिए अभी तक विश्व के भाषा-परिवारों की संख्या निश्चित नहीं हो सकी है। कई 10 और कई 18 भाषा-परिवार मानते हैं। पारिवारिक वर्गीकरण की प्रमुख कठिनाइयाँ इसप्रकार हैं-

1. भाषाओं से सम्बन्धित प्रामाणिक सामग्री की न्यूनता है। अतः कुछ भाषाएँ लुप्त हो गई हैं और कुछ भाषाओं का लिखित साहित्य अप्राप्य है।

2. भाषाओं में समकालिकता का अभाव है। सुमेरियन भाषा का समय 4 हजार वर्ष ई. पू. माना जाता है, सेमिटिक का 2800 ई. पू., भारोपीय का 2 हजार ई. पू., चीनी का 1500 ई. पू., द्राविड़ का 500 ई. पू.। सहस्रों वर्षों के अन्तर वाली भाषाओं

की तुलना से प्रामाणिक निर्णय नहीं निकाला जा सकता है। कालभेद से अनेक भेद-उपभेद हुए होंगे।

3. विश्व की सभी भाषाओं का पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ है। सैकड़ों भाषाओं के केवल नाम एवं उनकी रूपरेखा ही ज्ञात है। अतः विश्व-भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण को अभी तक निश्चित एवं निर्णीत नहीं माना जा सकता है।

1.5.1 पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता

पारिवारिक वर्गीकरण की कुछ व्यावहारिक उपयोगिताएँ हैं-

1. **सांस्कृतिक एकता-** एक परिवार से संबद्ध भाषाभाषियों में सांस्कृतिक एकता का उदय होता है। भारोपीय एवं आर्य-परिवार भारत और यूरोप दोनों में अपने आर्यत्व का बीज बोता है।

2. **तुलनात्मक अध्ययन-** एक परिवार से संबद्ध भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन गंभीरता से हो पाता है। शब्दों और अर्थों में कब और कैसे अन्तर हुए, इसका इतिहास ज्ञात होता है।

3. **विश्वभाषाओं का संक्षिप्त ज्ञान-** पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा विश्व की प्रमुख सभी भाषाओं के विषय में प्रत्येक भाषाशास्त्रीय अध्येता को संक्षिप्त किन्तु मौलिक तथ्यात्मक जानकारी हो जाती है।

4. **मूल-भाषा का अन्वेषण-** विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से प्रत्येक परिवार की मूलभाषा के अन्वेषण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप 'मूल भारोपीय भाषा' की कल्पना की गई है। मूल भारोपीय ध्वनियों का भी इसी आधार पर अनुमान किया गया है।

5. **विश्व-बन्धुत्व की भावना-** विश्व के प्रत्येक भाषा-परिवार का अन्य भाषा-परिवारों से प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क रहा है। इससे अनेकत्व में भी एकत्व की अनुभूति होती है। यह एकत्व की अनुभूति विश्व-बन्धुत्व की भावना को जन्म देती है। यही कारण है कि भाषाशास्त्री संकीर्णता, अनुदारता, एकांगिकता, असन्तुलन आदि दोषों से प्रायः मुक्त रहता है।

1.6 मुनित्रय :

संस्कृत भाषा में शास्त्रों से सम्बद्ध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय साहित्य के अध्येताओं के लिए आवश्यक है साथ ही उनके रचनाकारों का परिचय भी देना जरूरी है। इस विषय पर विभिन्न ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, विशेष रूप से काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद के इतिहास से संबद्ध बड़े-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रस्तुत अध्याय में व्याकरणशास्त्र के प्रमुख तीन वैयाकरणों एवं उनके योगदानों को प्रस्तुत किया जायेगा। सर्वप्रथम यहां व्याकरणशास्त्र का परिचय प्रस्तुत है-

व्याकरणशास्त्र : पदों का विश्लेषण (व्युत्पत्ति) तथा शुद्धता की समीक्षा के अर्थ में व्याकरण का उद्भव वैदिक युग में ही हो चुका था। इसके अनुसन्धान की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वेदाध्ययन के लिए उपादेय शास्त्रों (वेदाङ्गों) में व्याकरण को प्रमुख स्थान मिला (मुखं व्याकरणं स्मृतम्)। पद-विवेचन में अन्य सभी भाषाओं में संस्कृत अग्रणी है, इतनी सूक्ष्म दृष्टि तथा गम्भीरता से व्याकरण का विचार कहीं नहीं है। वेदाङ्गों में शिक्षा का उपयोग शुद्ध शब्दोच्चारण के लिए, व्याकरण का पद के विवेचन के लिए और निरुक्त का अर्थज्ञान एवं निर्वचन के लिए था। कालक्रम से ये सभी उपयोग व्याकरण पर आश्रित हो गये, उसका भार बढ़ गया। व्याकरण की दो पद्धतियाँ वैदिक युग में थीं और दोनों से शुद्ध पदों के ज्ञान का लक्ष्य पूरा होता था, वे दो पद्धतियाँ ये हैं- (क) प्रतिपद-पाठ तथा (ख) सामान्य-विशेष नियमों से शब्द-ज्ञान देना। प्रातिशाख्यों में दोनों प्रकार की विधियाँ मिलती हैं। क्रमशः दूसरी विधि की उपादेयता अधिक स्पष्ट हुई तो प्रतिपद-पाठ की निन्दा होने लगी क्योंकि उसमें काल का अपव्यय माना गया।

यद्यपि अनेक वैयाकरणों के नाम तथा उनके सिद्धान्त 700 ई. पू. के आसपास रचे गये, जो निरुक्त में मिलते हैं, तथापि उनके ग्रन्थों की प्राप्ति नहीं हुई है। तैत्तिरीय संहिता (6/4/7/3) के अनुसार देवों की प्रार्थना मानकर इन्द्र ने अव्याकृत वाणी का विश्लेषण करके प्रथम वैयाकरण होने का श्रेय प्राप्त किया। वाक्य से पदों का अपोद्धार और पद में प्रकृति एवं प्रत्यय की कल्पना व्याकृत वाणी का लक्षण हुई। इसे व्याकरण का शब्दपक्ष अर्थात् व्यावहारिक पक्ष कहा गया। दूसरी ओर व्याकरण का अर्थपक्ष

अर्थात् दार्शनिक पक्ष भी था, जिसमें वाक्य और उसका अर्थ ही परमतत्त्व माना गया। फिर भी व्याकरण की प्रक्रिया तो मुख्य रूप से शब्दपक्ष वाली ही है, जिसमें परमतत्त्व वाक्य का विभाजन पदों से होते हुए छोटी-छोटी इकाइयों में किया जाता है, एक-एक वर्ण की व्यवस्था की जाती है। यही संस्कृत भाषा की विशिष्टता है कि वैयाकरणों ने किसी वर्ण को अव्याख्यात नहीं छोड़ा।

आरम्भिक वैयाकरण निश्चित रूप से वैदिक भाषा का अन्वाख्यान करते थे लेकिन बाद में वे क्रमशः लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत, दोनों भाषाओं के अन्वाख्यान में सन्नद्ध हुए और अन्ततः उनका लक्ष्य केवल संस्कृत भाषा की व्याख्या में ही परिमित हो गया। पाणिनि जैसे आठ आदिम वैयाकरण हुए, जिन्होंने पृथक् पृथक् व्याकरण-सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। बोपदेव (13 वीं शताब्दी ई.) ने अपने 'कविकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में इनके नाम दिये हैं, जो वस्तुतः पक्षपातपूर्ण हैं-

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्त्रापिशाली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि-शाब्दिकाः ।।

इन सभी व्याकरण-प्रस्थानों में पाणिनीय प्रस्थान गम्भीरता, व्यापकता तथा ग्रन्थ-बाहुल्य की दृष्टि से प्रशस्त है। यहाँ मुख्य रूप से पाणिनीय प्रस्थान के महत्वपूर्ण आचार्यों तथा उनकी कृतियों का परिचय दिया जा रहा है, जिन्हें मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजली) भी कहा जाता है-

1. पाणिनि

संस्कृत भाषा को अद्भुत व्याकरण का उपहार देने वाले पाणिनि का जन्म शालातुर-ग्राम (वर्तमान-लाहौर, पाकिस्तान में अटक के समीप) में हुआ था, इसीलिए पतंजलि ने इन्हें प्रायः 'शालातुरीय' कहा है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः ये 'दाक्षीपुत्र' भी कहे गये हैं। कथासरित्सागर के अनुसार ये वर्ष नामक आचार्य के शिष्य थे। पाणिनि-काल 500 ई. पू. में अधिसंख्यक विद्वानों ने माना है किन्तु कुछ लोग इन्हें 700-600 ई. पू. के बीच रखने के पक्षधर हैं। डॉ. बेलवलकर इसी मत के प्रवर्तक थे। पाणिनि ने सम्भवतः 'जाम्बवतीजय' काव्य भी लिखा था।

पाणिनि का काल

यह बहुत जटिल प्रश्न है, फिर भी अनेक विद्वानों ने इसका समाधान अपने-अपने तर्कों से किया है। (1) पाणिनि के काल की पूर्वसीमा यास्क का निरुक्त (800 ई. पू.) तथा प्रातिशाख्य-ग्रन्थ है, जो पाणिनि से पूर्व की रचनाएँ हैं। उनके समय की उत्तर सीमा नन्दकाल में आविर्भूत कात्यायन (350 ई.पू.) हैं, जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं। (2) बृहत्कथा की परम्परा में पाणिनि और कात्यायन को समकालिक कहा गया है, जिसे प्रमाण मानकर मैक्समूलर आदि पाश्चात्य लेखकों ने पाणिनि को भी 350 ई. पू. में रखा था किन्तु यह दोषपूर्ण मान्यता है क्योंकि कात्यायन के वार्तिकों से स्पष्ट होता है कि पाणिनि के द्वारा निरीक्षित संस्कृत भाषा में उल्लेखनीय परिवर्तन कात्यायन के समय तक हो चुके थे, अतः दोनों के काल में दो-तीन सौ वर्षों का व्यवधान अवश्य होगा अर्थात् पाणिनि को 600 ई. पू. मानना अनिवार्य है।

(3) कुछ लोगों ने 'कुमारः श्रमणादिभिः' (पा. सू. 2/1/70) के आधार पर पाणिनि पर बौद्ध प्रभाव दिखाया है क्योंकि उक्त सूत्र के गण-पाठ में स्त्रीलिङ्ग 'श्रमणा' शब्द आया है। बुद्ध ने ही श्रमण का प्रयोग करके स्त्रियों को भी श्रमणा (संन्यासिनी) बनने का विधान किया था। यह तर्कसंगत नहीं क्योंकि प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी 'श्रमण' का प्रयोग है।

(4) पाणिनि ने 'निर्वाणोऽवाते' (पा. सू. 8/2/50) सूत्र में 'निर्वाण' शब्द (त का नकार) का विधान 'शान्त या बुझा हुआ' के अर्थ में किया है-निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः। बौद्ध धर्म में यह मोक्ष के अर्थ में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है, जो तृतीय आर्यसत्य माना गया है। बौद्ध धर्म से पाणिनि परिचित होते तो इस शब्द को इस अर्थ में अवश्य समझाते।

(5) गोल्डस्टूकर तथा रामकृष्ण भण्डारकर ने पाणिनि का काल 700 ई. पू., श्रीपादकृष्ण बेलवलकर ने 700-600 ई. पू. तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने 500 ई. पू. के निकट माना है। डॉ. अग्रवाल ने तो पाणिनि की आयु 70 वर्ष मानकर उनके जीवन-काल को निश्चित तिथियों के द्वारा निरूपित किया है। यहाँ न तो मैक्समूलर, कीथ आदि के द्वारा स्वीकृत 350 ई. पू. को और न ही युधिष्ठिर मीमांसक के द्वारा निर्दिष्ट 2900 ई. पू. को पाणिनि का काल माना जा सकता है, ये अतिवादी मत हैं।

गोल्डस्टूकर ने पाणिनि के वैदिक ज्ञान की मीमांसा करते हुए कहा था कि वे केवल तीन वेदों से परिचित थे, आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, शतपथ, अथर्ववेद आदि से वे अपरिचित थे। इस मत का विस्तृत निराकरण पॉल थीमे, अग्रवाल आदि ने किया है। वे मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद-वाङ्मय पाणिनि के पूर्व विकसित हो चुका था। यह काल अवश्य ही 600 ई. पू. का रहा होगा। उस काल में संस्कृत में प्राच्य और उदीच्य नामक दो विभाषाएँ (बोलियाँ) प्रचलित थीं।

पाणिनि का योगदान

संस्कृत व्याकरणशास्त्र को पाणिनि का योगदान अमर है। इनका व्याकरण-प्रस्थान संस्कृत व्याकरण के सभी दस उपलब्ध प्रस्थानों में व्यापकता, गम्भीरता एवं स्वीकार्यता के कारण अग्रणी है। लौकिक संस्कृत के साथ वैदिक भाषा की तुलना एवं उनके शब्दों की सूक्ष्म विवेचना इनके व्याकरण की विशिष्टता है। अपनी प्रख्यात कृति 'अष्टाध्यायी' में इन्होंने 3978 सूत्रों (तथा 14 प्रत्याहार-सूत्रों) के द्वारा तात्कालिक भाषा का जैसा सर्वेक्षण इन्होंने किया है, वैसा किसी भाषा के किसी ग्रन्थ में नहीं है। अष्टाध्यायी आठ अध्यायों में विभाजित सूत्र-ग्रन्थ है, प्रत्येक अध्याय को 4-4 पादों में विभक्त किया गया है। विषयों का क्रम प्रकरणों के अनुसार, अनुवृत्ति को ध्यान में रखकर, वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है। यह अपरिचित भाषा को सिखाने वाली रचना नहीं है, अपितु परिचित प्रचलित भाषा के पदों का विवरण देने वाली कृति है। लोक तथा वेद में व्यवहृत प्रत्येक पद के प्रत्येक अक्षर की व्याख्या करना इसका लक्ष्य है।

अष्टाध्यायी को समझने के लिए उन्होंने कुछ सहायक ग्रन्थ भी परिशिष्ट के रूप में लिखे- गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन तथा उणादिसूत्र। इन पाँचों का संयुक्त नाम है- पंचपाठी। इस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण-प्रस्थान का प्रवर्तन इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के महान् उद्देश्य से किया था। यह कहा जाता है कि संस्कृत की समस्त शब्द-सम्पदा नष्ट हो जाये तो भी अष्टाध्यायी के द्वारा उसका पुनरुद्धार किया जा सकता है। पाणिनि के भाषिक तथा व्याकरणिक योगदान का आकलन निम्नांकित बिन्दुओं पर किया जा सकता है-

(1) माहेश्वर सूत्र या प्रत्याहार-सूत्र, अष्टाध्यायी के आधार है। ये वर्णोपदेश के रूप में हैं, जिनसे वर्ण-संक्षेप के लिए प्रत्याहार बनते हैं। जैसे अण्, अच्, हल्, अक्,

जश् आदि। उक्त 14 सूत्रों में संस्कृत की वर्णमाला अष्टाध्यायी के सूत्रों में उपयोग के लिए दी गयी है। स्वरों को मूल (अ,इ,उ, ऋ,लृ) तथा सन्ध्यक्षर (ए ओ ए औ) के रूप में बाँटकर व्यंजनों को अन्तःस्थ, स्पर्श (विपरीत क्रम से पंचम, चतुर्थ तृतीय, द्वितीय और प्रथम के रूप में) तथा ऊष्म के क्रम से सजाकर ध्वनिविज्ञान के क्षेत्र में समर्थ पद स्थापित किया गया है।

(2) अष्टाध्यायी में लाघव के लिए अनेक विधियों का प्रयोग है। जैसे- प्रत्याहार, गण-व्यवस्था, अनुबन्धों का विभिन्न प्रयोजनों से विनियोग, अधिकार-सूत्र, अनुवृत्ति तथा परिभाषा-सूत्र। प्रत्याहार माहेश्वर सूत्रों तक ही परिमित नहीं (जैसे-अच्= भी स्वरवर्ण, जश्-तृतीय वर्ण, शल्-ऊष्मवर्ण इत्यादि), प्रत्युत सुप्, तिङ्, सुट् इत्यादि के रूप में प्रत्यय-समूह भी इसकी परिधि में आते हैं। दो वर्णों का प्रत्याहार अनेक वर्णों का लाघव करता है।

(3) सन्धि के नियमों को अष्टाध्यायी के षष्ठ और अष्टम अध्यायों में पाणिनि ने विस्तार से समझाया है। इस प्रसंग में षत्व, णत्व, जश्त्व, चर्त्त्व आदि सभी प्रकार के वर्ण-परिवर्तन स्पष्ट किये गये हैं।

(4) व्याकरण की महत्वपूर्ण प्रक्रिया उत्सर्ग (सामान्य नियम) तथा अपवाद (विशेष नियम) के रूप में पाणिनि ने अपनायी है। जैसे-दीर्घ होने का सामान्य नियम देकर पुनः अपवाद के कई सूत्र दिये गये हैं कि इन स्थानों में दीर्घ का प्रसंग होने पर भी वह नहीं होगा। इससे व्याकरण में प्रतिपद-पाठ की प्रलम्ब विपत्ति का निराकरण हो जाता है।

(5) पद-विज्ञान ही पाणिनि का मुख्य प्रतिपाद्य है। पद दो प्रकार के हैं- सुबन्त तथा तिङन्त। प्रातिपदिकों से सुबन्त और धातुओं से तिङन्त पद निष्पन्न होते हैं। कुछ प्रातिपदिक कृदन्त, तद्धितान्त और समास के रूप में हैं। इन सभी की निष्पत्ति की सूक्ष्म प्रक्रिया अष्टाध्यायी में वर्णित है। पद का रूप चाहे सरल हो या जटिल, पाणिनि उसका प्रत्यक्षर विवरण देते हैं। आधुनिक वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Descriptive Linguistic) का प्रवर्तक पाणिनि को माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। अव्याकृत पदों (अव्ययों-निपातों) को पाणिनि ने प्रतिपद-पाठ का ही परिधान प्रदान किया है।

(6) प्रत्ययों का विधान या वर्णन करते हुए पाणिनि का ध्यान अर्थ पर भी रहा है। ऐसा मुख्यतः कृत् और तद्धित के प्रसंग में देखा जा सकता है। प्रत्ययान्त धातु के निष्पादक सन्, क्यच्, यङ् आदि प्रत्ययों के भी विशिष्ट अर्थ उन्होंने बताये हैं। धातुपाठ पूरा का पूरा अर्थ से विभूषित है। इस प्रकार अर्थविज्ञान के क्षेत्र में भी पाणिनि का योगदान अमूल्य है।

(7) पाणिनि ने पारिभाषिक शब्दों का द्विविध प्रयोग किया है। कुछ शब्द तो सामान्य व्यवहार से लेकर विशिष्ट अर्थों में उन्होंने रखे हैं। जैसे-गुण, वृद्धि, धातु, प्रातिपदिक आदि। कुछ सर्वथा कृत्रिम लघुकाय संज्ञाएँ रखीं जैसे-टि, घु, भ, घ इत्यादि। इनकी भाषा के लाघव में प्रभूत भूमिका है।

(8) पाणिनि भाषा का विश्लेषण एक समृद्ध दार्शनिक आधार पर कर रहे थे। कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि आदि परवर्ती व्याख्याकारों ने पाणिनि के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाते हुए स्पष्ट कहा है कि व्याकरण भाषा का केवल बाह्य विश्लेषण नहीं है, इसमें वाक्-रूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति भी होती है। अन्य व्याकरण-सम्प्रदाय जहाँ भाषा की ऊपरी रूपरेखा तक ही सीमित हैं, पाणिनीय तन्त्र अर्थपक्ष (अर्थात् दर्शन) का भी विवेचन करता है। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान के प्रवर्तक पाणिनि का अद्भुत योगदान है।

2. कात्यायन

पाणिनीय सूत्रों की समीक्षा लघुकाय वार्तिकों में करने वाले कात्यायन का काल 350 ई. पू. माना जाता है। इनका एक नाम वररुचि भी था (यद्यपि इस नामके अनेक लेखक हुए हैं)। ये दाक्षिणात्य थे, जैसाकि पतंजलि ने इनके एक वार्तिक (यथा लौकिकवैदिकेषु) की समीक्षा में कहा है- प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। पाणिनि के व्याकरण में काल-गत व्यवधान से कुछ परिवर्तन की आवश्यकता हो गयी थी, जिसे वार्तिकों में (उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकं काव्यमीमांसा) निरूपित किया गया है। जैसे-पाणिनि के समय दीधी और वेवी धातुएँ प्रयुक्त थीं, कात्यायन के काल में अप्रचलित हो गयीं। 'इन्धिभवतिभ्यां च' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है, इसी प्रकार भाषा के विकास का निरीक्षण वार्तिकों में है। संस्कृत की विभाषाओं का निर्देश, लोकव्यवहार को भाषा का

नियामक बताना एवं शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध मानना (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे) कात्यायन का विशिष्ट योगदान है। महाभाष्य में समस्त वार्तिकों की समीक्षा है, उसी से वार्तिकों का स्वरूप और परिमाण जाना जाता है।

3. पतंजलि

व्याकरण महाभाष्य के लेखक पतंजलि ने अपने लिए 'गोनर्दीय' और 'गोणिकापुत्र' का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये गोनर्द (गोंडा-उत्तरप्रदेश) के निवासी थे तथा इनकी माता का नाम गोणिका था। कुछ विद्वानों ने इन्हें कश्मीरी कहा है। प्रायः माना जाता है कि इन्होंने ही 'योगसूत्र' की रचना की थी। कुछ प्राचीन विद्वान् तो इन्हें आयुर्वेद के ग्रन्थ-चरकसंहिता का भी लेखक या संस्कर्ता मानते हैं। इस सन्दर्भ में एक प्राचीन पद्य है-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि ॥

केवल योगसूत्र और महाभाष्य की एककर्तृकता प्रमाणों से पुष्ट होती है।

पतंजलि का समय अधिक विवादास्पद नहीं। प्रायः सभी विद्वान् इन्हें 200 ई. पू. से 150 ई. पू. तक मानने में सहमत हैं। केवल पं. युधिष्ठिर मीमांसक इन्हें 2000 ई. पू. मानने के पक्षधर हैं किन्तु यह अतिवादी मत है। पतंजलि के काल-निर्णय का सबसे पुष्ट प्रमाण पुष्यमित्र (शुंगनरेश) के द्वारा संचालित अश्वमेध यज्ञ है, जिसका उल्लेख पुराणों में मिलता है और पतंजलि भी निर्दिष्ट करते हैं-पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयति, याजका याजयन्तीति। स्पष्टतः पुष्यमित्र के अनेक पुरोहितों में पतंजलि भी थे। उसी काल में महाभाष्य की रचना हुई थी। इतिहासकार मानते हैं कि अन्तिम मौर्य-नरेश को मारकर उनके सेनापति पुष्यमित्र ने 185 ई. पू. में मगध का राज्य आत्मसात् किया था। मत्स्यपुराण के निर्देश से पता लगता है कि 36 वर्षों तक राज्य करने के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। यह समय 149 या 150 ई. पू. होता है। अतः यही काल महाभाष्य की रचना का है। उस समय कुछ ही दिन पूर्व किसी यवन आक्रान्ता ने साकेत तथा माध्यमिका नगरों पर घेरा डाला था। इसका उल्लेख पतंजलि करते हैं- अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्य अरुणद् यवनः साकेतम्।

पतंजलि का योगदान

पतंजलि ने पाणिनि के महत्त्वपूर्ण सूत्रों तथा उन पर कात्यायन के वार्तिकों की समीक्षा महाभाष्य में की है। समीक्षा के क्रम में उन्होंने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, लोकप्रथा इत्यादि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। जैसे- अपने युग की घटनाओं (यवनों का साकेत पर घेरा डालना), अभिनयों (कंसं घातयति, बलिं बन्धयति) तथा साहित्यिक रचनाओं (वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी नामक आख्यायिकाओं) का उल्लेख। इस प्रकार महाभाष्य में पतंजलि ने तात्कालिक सांस्कृतिक परिवेश में झाँकने के लिए पर्याप्त सामग्री दी है। भाष्य का लक्षण है-

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

सूत्रों का अनुसरण करने वाले पदों से सूत्रार्थ का विवरण (व्याख्या) देते हुए जब कोई अपने पदों का भी व्याख्यान करता है तब इसे 'भाष्य' कहते हैं। यद्यपि संस्कृत शास्त्रों में कई भाष्य हैं जैसे-शाबरभाष्य, शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, सायणभाष्य आदि, किन्तु महाभाष्य कहलाने का गौरव पतंजलि के भाष्य को ही मिला है। यह इसकी महत्ता का सूचक है। उपर्युक्त विषय-वैविध्य इसका निमित्त है। 'वाक्यपदीय' में (2/477) भर्तृहरि ने पतंजलि की प्रशंसा में कहा है-

कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

यहाँ पतंजलि को 'तीर्थदर्शी' (व्याकरण के अतिरिक्त अन्य आगमों का ज्ञाता) कहा गया है। महाभाष्य सभी लौकिक युक्तियों तथा परिभाषाओं के संकेतों (न्याय बीज) से सम्पन्न है। इस सन्दर्भ में व्याख्याकार पुण्यराज ने कहा है- 'तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यावत्सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति अत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके (वाक्य. टीका 2/477)। इसमें अनेक प्रकार के सिद्धान्त हैं, विद्यावाद है और दर्शनों की लोकोक्तियाँ हैं (महाभाष्यं हि बहुविधविद्यावादबलमार्थ व्यवस्थितम्-वा.प. टीका 2/478)। जैसे-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।' यह सिद्धान्त व्याकरण के अतिरिक्त भी कई शास्त्रों

में उपादेय है। इसी प्रकार कई न्याय उन्होंने दिये हैं, जैसे- एकदेशविकृतमनन्यवत्, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः इत्यादि।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक के द्वारा पतंजलि ने भूमिका-लेखन की यास्कीय विधि को विकसित किया। यास्क निरुक्त के प्रथमाध्याय के रूप में शास्त्र की पूर्वपीठिका (भूमिका) की परम्परा का प्रवर्तन कर चुके थे। महाभाष्य के प्रथम आह्निक को 'पस्पशा' (विमर्श) कहते हैं। इसमें शब्द और अर्थ का स्वरूप, व्याकरण के प्रयोजन, शब्दानुशासन की प्रक्रिया, शब्दार्थ-सम्बन्ध, व्याकरण का स्वरूप तथा अइउण आदि सूत्रों में वर्णोपदेश का महत्त्व- इस प्रकार आवश्यक विषयों का गम्भीर विवेचन सरल शैली में किया गया है। महाभाष्य में व्याकरण का शब्द-पक्ष और अर्थपक्ष (दर्शन), दोनों विवेचित हैं, भर्तृहरि ने दार्शनिक पक्ष को आधार बनाकर 'वाक्यपदीय' की रचना की। पतंजलि के समक्ष अनेक सिद्धान्त थे, किसी एक मत को स्वीकार न करके उन्होंने यत्र-तत्र अपनी उदारता भी प्रकट की। उनका कथन है- 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं, तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्। इसीलिए उन्होंने पस्पशाह्निक में आकृति और द्रव्य दोनों को पदार्थ मानकर सूत्र-प्रवृत्ति दिखायी है। व्याकरण के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके समक्ष तीन पक्ष थे- सूत्रं व्याकरणम्, लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। अन्तिम पक्ष उन्हें मान्य हुआ, अन्य दोनों के दोष उन्होंने दिखाये।

पतंजलि का एक सर्ववेदपारिषद वाक्य व्याख्यान का स्वरूप स्पष्ट करता है- न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्, किं तर्हि? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः- इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति (आह्निक 1)। इसका पालन करते हुए उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को भी विवेचना की है। सूत्र की विविध-कोटिक समीक्षा महाभाष्य का वैशिष्ट्य है।

भाषाशास्त्री के समान पतंजलि भी लोक में प्रयुक्त भाषा को साहित्यिक भाषा से अधिक महत्त्व देते हैं। भाषा में स्थानीय अर्थभेद और प्रयोगभेद होते हैं, इसकी विवेचना उन्होंने अनेकत्र की है। ध्वनि, पद और अर्थ के रूप में भाषा के समस्त गूढ़ सिद्धान्तों का अनुशीलन महाभाष्य में सुलभ है। वस्तुतः पतंजलि अपने युग से आगे देखने वाले महामनीषी थे, पाणिनीय तन्त्र उनसे प्रतिष्ठित हुआ।

व्याकरणशास्त्र में पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि को 'त्रिमुनि' कहा जाता है। इस पाणिनीय तन्त्र को 'त्रिमुनि व्याकरणम्' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन मुनियों में भी सिद्धान्त की दृष्टि से क्रमशः प्रामाणिकता बढ़ती गयी है- यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। इस दृष्टि से पतंजलि का महत्त्व उपर्युक्त दोनों आचार्यों से बढ़कर है।

जीवित भाषा की दृष्टि से इन तीन वैयाकरणों में ही व्याकरण की समाप्ति हो गयी क्योंकि भाषा के तथ्यों का निरीक्षण आगे नहीं हुआ। पाणिनि तथा पतंजलि की व्याख्या एवं सूत्र-क्रम-भंजक प्रक्रिया-ग्रन्थों की श्रृंखला ही परवर्ती पाणिनीय सम्प्रदाय की विशिष्टता है।

1.7 अभ्यास-प्रश्न -

1. भाषा की परिभाषा देते हुए भाषा का स्वरूप निर्धारित कीजिए ।
2. भाषा के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालिए ।
3. भाषा विज्ञान के नामकरण का आधार बताइये।
4. भाषाविज्ञान की परिभाषा देते हुए, भाषाविज्ञान के प्रधान अंगों का परिचय दीजिए।
5. भाषा विज्ञान की उपयोगिता लिखिये।



इकाई – 2

सामान्य भाषाशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारोपीय भाषा परिवार का परिचय

2.2.0 आर्यों का उद्गम स्थल

2.2.1 भारोपीय परिवार का महत्त्व

2.2.2 मूल भारोपीय भाषा की विशेषता

2.2.3 भारोपीय परिवार की शाखाएं

2.2.4 भारोपीय परिवार की विशेषताएं

2.3 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

2.3.0 वैदिक संस्कृत की ध्वनियां

2.3.1 वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएं

2.3.2 लौकिक संस्कृत

2.3.3 लौकिक संस्कृत की ध्वनियां

2.3.4 संस्कृत भाषा की विशेषताएं

2.3.5 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की समानताएं व विषमताएं

2.4 आर्य या भारत इरानी शाखा परिवार

2.4.0 केन्टुम या शतम् वर्ग

2.4.1 भारोपीय परिवार का विभाजन

2.5 भाषा और वाक्

2.5.0 बोली, विभाषा व भाषा

2.6 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य :

1. भारोपीय भाषा परिवार की जानकारी करना।
2. वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा की समानताएं एवं विषमताओं के विषय में जानना।
3. भारत इरानी भाषा परिवार के बारे में जानकारी करना
4. भारोपीय परिवार के दो समूह शतम् एवं केन्टुम् के विषय में जानना।
5. बोली, भाषा एवं विभाषा के विषय में जानकारी प्राप्त करना।

2.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी में फिलोलॉजी (Philology) और लिग्विस्टिक्स (Linguistics) दो शब्दों का प्रचलन है। इन दोनों के अनुवाद के रूप में क्रमशः भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कुछ विद्वानों ने लिग्विस्टिक्स के लिए भी भाषा-विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतया विज्ञान से सम्बद्ध विषयों के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। जैसे- भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि। साहित्य एवं कला से सम्बद्ध विषयों के लिए शास्त्र शब्द का प्रचलन है। जैसे- धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि। उपर्युक्त दोनों शब्दों के लिए भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र का अलग-अलग प्रयोग किया जाय या केवल भाषा-विज्ञान का ही प्रयोग किया जाय, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

इस विषय में मेरा विचार है कि भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र इन दोनों शब्दों का समानार्थक रूप में प्रयोग किया जा सकता है। भाषा में प्रचलन मुख्य है। प्रचलन शब्द, प्रयोग का नियामक है। आजकल हिन्दी में विज्ञान और शास्त्र शब्दों का मौलिक अन्तर भुलाकर समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है। जैसे- फिजिक्स के लिए भौतिक-विज्ञान और भौतिक-शास्त्र दोनों शब्द प्रचलित हैं। केमिस्ट्री के लिए रसायन-विज्ञान और रसायन-शास्त्र। इसी प्रकार समाज-विज्ञान और समाज-शास्त्र, मानव-विज्ञान और मानव-शास्त्र, राजनीति विज्ञान और राजनीतिशास्त्र, शिल्प-विज्ञान और शिल्प-शास्त्र आदि शब्द समानार्थक रूप में प्रचलित हैं। इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र दोनों शब्दों का प्रयोग औचित्य के अनुसार समानार्थक के रूप में किया जा

सकता है। सामान्यतया फिलॉलोजी के अर्थ में भाषा-विज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है और लिंग्विस्टिक्स के लिए भाषाशास्त्र का प्रचलन है।

इस इकाई में हम भारोपीय भाषा परिवार के साथ-साथ इसके उप-परिवार भारत इरानी भाषा परिवार के विषय में जानकारी करेंगे तथा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत, बोली तथा भाषा के अन्तर को समझेंगे।

2.2 भारोपीय भाषा-परिवार का परिचय

भारोपीय परिवार के विभिन्न नाम समय-समय पर सुझाए गए हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय चार मत हैं-

1. **इण्डो-जर्मनिक (Indo-Germanic)** या भारत जर्मनिक परिवार- भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वप्रथम जर्मन विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने एक छोर पर भारतीय भाषाओं और दूसरे छोर पर जर्मन भाषाओं को लेकर यह नाम प्रस्तुत किया। जर्मन विद्वान् आज भी भारोपीय परिवार को इसी नाम से संबोधित करते हैं। इस नाम में अव्याप्ति दोष है (क) जर्मनी के पश्चिम में केल्टिक परिवार है, यह छूट जाता है। (ख) जर्मनी के दक्षिण में इटालिक या रोमांस परिवार (फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली आदि) है, वह छूट जाता है। इसलिए यह नाम अंग्रेज भाषाशास्त्रियों आदि को स्वीकृत नहीं हुआ। रानीतिक दृष्टि से अंग्रेज जर्मनों के शत्रु रहे हैं, अतः उन्होंने यह नाम स्वीकार नहीं किया।

2. **आर्य-परिवार-** इस परिवार के बोलने वाले मूल पुरुष 'आर्य' थे, अतः यह नाम प्रस्तुत किया गया। यह नाम भी स्वीकृत नहीं हुआ। इसके दो कारण थे (1) इस भाषा के बोलने वाले सभी आर्य नहीं हैं। (2) भारत-ईरानी परिवार के लिए 'आर्य-परिवार' शब्द अधिक प्रचलित है। इससे भ्रम होना संभव है।

3. **भारोपीय (Indo-European) परिवार-** इसको भारत-यूरोपीय परिवार भी कहते हैं। यह नाम सर्वप्रथम फ्रेंच विद्वानों ने दिया। इससे भाषा के भौगोलिक विस्तार का बोध होता है कि यह भारत से यूरोप तक फैला है। इस नाम में भी अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोष है (क) पूरे भारत और यूरोप में ये भाषाएँ नहीं बोली जाती

है। दक्षिण भारत में द्राविड़ परिवार है। यूरोप में बास्क, काकेशी, यूराल-अल्ताई आदि परिवार भारोपीय से भिन्न हैं। (ख) अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि में भी अंग्रेजी, फ्रेंच आदि बोली जाती हैं। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हैं। वस्तुतः निर्दोष कोई नाम मिलना संभव नहीं है। यह नाम अत्यन्त प्रचलित हो गया है, अतः इसे ही अपनाया जाता है।

4. **भारत-हिती (Indo-Hittite)** परिवार- 1863 ई. में ह्यूगो विकलर को बोगाजकोई स्थान पर कीलाक्षर अभिलेख मिले। इनके अध्ययन से हिती या हिटाइट भाषा का पता लगा। प्रो. स्टुर्टवेंट ने सिद्ध किया है कि यह भाषा भारोपीय भाषा की पुत्री न होकर बहिन है। इस आधार पर इस परिवार को 'भारत-हिती' नाम दिया गया। यह नाम भी स्वीकृत नहीं हुआ है। इसके कुछ दोष हैं (1) इससे भाषा के विस्तार एवं व्यापकता का पता नहीं चलता है। (2) हिती जाति का नाम है जबकि भारत देश वाचक है। दोनों का मेल असंगत है। (3) इस नाम में अस्पष्टता है। प्रचलन के आधार पर भारोपीय नाम ही सर्वोत्तम माना जाता है।

भारोपीय भाषा का उद्गम स्थान

भारोपीय परिवार की वर्तमान एवं प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन भाषाओं के प्रयोक्ता आदि पुरुष किसी एक स्थान पर रहते थे। किसी दैवी या भौतिक कारण से वे अपने इस स्थान से बिखरे और एशिया तथा यूरोप के विभिन्न भागों में फैल गए। इस विस्तार का फल यह हुआ कि इनमें कुछ मौलिक शब्द समान रूप से सभी भाषाओं में पूर्ववत्, कुछ विकार के साथ, प्रचलित रहे। इन मौलिक शब्दों में विशेष उल्लेखनीय हैं- सम्बन्धवाचक शब्द, संख्या-शब्द, सर्वनाम शब्द, कुछ क्रिया-शब्द आदि। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है।

सामान्यतया मूल भारोपीय भाषा के बोलने वालों को 'आर्य' नाम दिया गया है। आर्यों का प्रारंभिक देश कहाँ था? यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है। इस विषय पर भारत और पाश्चात्य देशों के पचासों विद्वानों ने सहस्रों पृष्ठ लिखा है। प्रत्येक ने अपनी जन्मभूमि या स्व-देश को आर्यों का प्रारंभिक देश सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इसमें राजनीतिक दृष्टिकोण भी प्रविष्ट हो गया, जिसके कारण आर्यों का आदि देश भारत से बाहर दिखाना अनिवार्य हो गया। इस प्रश्न को इतना उलझा दिया गया है कि आज किसी भी विद्वान् के लिए सम्भव नहीं है कि वह इस विषय में कोई निर्णायक मत प्रस्तुत कर सके। जिस प्रकार 'भाषा की उत्पत्ति' का विषय आज तक अनिर्णीत है, उसी प्रकार भारोपीय भाषा का 'आदि-देश' अनिर्णीत है। अब इस विषय पर अधिक विचार करना समयापव्यय समझा जाने लगा है। यहाँ केवल संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

2.3.0 आर्यों का उद्गम-स्थान :

(क) भारत देश- इसमें भी विभिन्न मत हैं (1) स्वामी दयानन्द- त्रिविष्टप (तिब्बत), (2) अविनाशचन्द्र दास- सरस्वती नदी का उद्गम स्थल, हिमालय (3) डॉ. गंगानाथ झा- ब्रह्मर्षि देश (4) डी. एस. त्रिवेदी- मुलतान में देविका नदी की घाटी (5) अन्य- मुलतान (मुलतान-मूलस्थान) (6) एस. डी. कल्ला- कश्मीर या हिमालय। डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि भी आर्यों का आदि-देश भारत मानते हैं। इन विद्वानों का आधार वेद, पुराण, प्राचीन धर्मग्रन्थ आदि हैं। इन्होंने भाषाशास्त्रीय निष्कर्षों को आधार नहीं माना है।

(ख) भारतेतर देश- इस विषय में प्रमुख मत ये हैं- (1) प्रो. मैक्समूलर- पामीर का प्लेटो एवं मध्य एशिया (2) डॉ. लैथम (Latham)- स्कैण्डेनेविया (3) प्रो. सेर्जी (Sergi)- एशिया माइनर (4) लोकमान्य बालगंगाधर- तिलक उत्तरी ध्रुव के समीप (5) सर देसाई- बालकन झील के पास (सप्तसिन्धु) (6) डॉ. गाइल्ज (Giles)- हंगरी में कारपेथियन पर्वत के समीप (7) हर्ट- विश्चुला नदी के पास (8) मच (Much)- पश्चिमी बाल्टिक तट (9) नेहरिंग (Nehring)- दक्षिणी रूस (10) प्रो. श्रेडर (Schroeder)- दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने के पास (11) ब्रान्डेन्स्टाइन (Brandenstein)- यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में किरगीज का मैदान।

इनमें से गाइल्ज, श्रेडर और ब्रान्डेन्स्टाइन के मत को अधिक महत्त्व दिया जाता है। गाइल्ज ने भारोपीय भाषाओं के शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पशु, पक्षियों और वृक्षों आदि का निर्णय किया और उनके आधार पर हंगरी में कारपेथियन,

आल्प्स पर्वत आदि के बीच के समशीतोष्ण क्षेत्र को मूल स्थान बताया। ब्रान्डेन्स्टाइन ने प्राचीन शब्दकोष के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की शाखा अर्थविज्ञान का भी आश्रय लिया है। इन्होंने भी पशु, पक्षी, वृक्षादि के वाचक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इन्होंने यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगीज का मैदान मूल स्थान माना है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् ब्रान्डेन्स्टाइन के मत को अधिक उपयुक्त समझते हैं।

आर्य और भारत- यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो आर्यों का आदि-देश भारत होना प्रायः निश्चित है। इस विषय में कुछ बातें विचारणीय हैं-

(क) त्रिविष्टप (वर्तमान नाम तिब्बत) का उल्लेख आदिस्थल, देवभूमि, इन्द्रपुरी आदि के रूप में प्राचीन संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, रघुवंश आदि में इसका उल्लेख है। विष्टप का अर्थ-भुवन, लोक है। त्रिविष्टप स्वर्ग का पर्यायवाची है। देवभूमि, तपोभूमि होने से इसे स्वर्ग के तुल्य माना जाता था।

(ख) भूगर्भविज्ञान के अनुसार पृथ्वी पहले जलाप्लावित थी। सर्वप्रथम हिमालय आदि पर्वत निकले। इन पर ही मानव सृष्टि प्रारम्भ हुई। इस दृष्टि से तिब्बत और पामीर के पठार सर्वोत्तम स्थान ज्ञात होते हैं।

(ग) किसी भी प्राचीन साहित्य में तिब्बत के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर आदिमानव की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता है।

(घ) 1655 ई. तक तिब्बत, कैलास, मानसरोवर आदि भारत के अभिन्न अंग थे। मानव जाति के आदिपुरुष मनु का स्थान हिमालय पर्वत ही माना जाता है। बाद में गंगा-यमुना एवं सिन्धु आदि पंचनदों के मैदान बने हैं। तिब्बत से नीति और माणा दरों के मार्ग से प्राचीन मानवों का गंगा-यमुना के मैदानी भाग में आगमन हुआ होगा। यहीं एक समुदाय पंजाब की ओर गया होगा, जो मुलतान (मूलस्थान) में भी रहा होगा। फिर इसका ही एक भाग पश्चिम की ओर गया होगा, जो ईरानी (फारसी, अवेस्ता) भाषाभाषियों के आदिपुरुष होंगे। यह भी संभव है कि तिब्बत से एक समुदाय पहाड़ी मार्ग से ही रूस की ओर गया हो, जो हिन्दी जाति आदि के आदिपुरुष होंगे। यूरोप की भाषाएँ तिब्बत से सीधे रूस और यूरोप में गये लोगों की भाषाओं से उद्भूत होंगी,

अतएव एक ओर वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता में साम्य है, दूसरी ओर यूरोपीय भाषाओं में आधारभूत साम्य है।

(ड) ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से गंगा-यमुना के मैदान से पश्चिम की ओर आर्यों के विस्तार का संकेत है। इसमें नदियों का क्रम स्पष्टतया पूर्व से पश्चिम की ओर निर्दिष्ट है- गंगा, यमुना, सरस्वती (कुरुक्षेत्र के पास बहने वाली नदी), शुतुद्रि (सतलज), असिक्नी (चन्द्रभागा, चेनाब), वितस्ता (झेलम), सिन्धु (सिन्ध), कुभा (सिन्ध में गिरनेवाली काबुल नदी), गोमती (सिन्ध में गिरनेवाली नदी), कुमु (सिन्ध की सहायक नदी) आदि।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति, शुतुद्रि स्तोमं सचता परुण्या ।

असिक्या मरुद्वधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ (ऋग्वे. 10-75-5)

त्वं सिन्धो कुभया गोमती कुमुं..। (ऋग्वे. 10-75-6)

(च) विश्व के किसी भी प्रामाणिक प्राचीन इतिहास में आर्यों के बाहर से भारत में आने का उल्लेख नहीं है। यदि इसमें नाममात्र भी सत्यांश होता तो किसी न किसी इतिहास, शिलालेख या अभिलेख में इसका अवश्य उल्लेख होता। वस्तुतः आर्य भारत से ही बाहर गए हैं।

(छ) ब्रान्डेन्स्टाइन ने किरगीज का मैदान, जो प्रस्तावित किया है, वह मूल रूप में मान्य नहीं हो सकता है। भूगर्भविज्ञान और नृवंशविज्ञान निर्विवाद रूप से आदि-मानवों का मूलस्थान पर्वत या पर्वतीय पठारी भाग मानते हैं। इसी पर हिमयुग की कल्पना निर्भर है। मैदानी भाग बहुत बाद में बने हैं, अतः मैदानी भाग के आधार पर कल्पना मान्य नहीं हो सकती है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। यह संभव है कि मूल पुरुष अपने स्थान से हटने पर कुछ गंगा-यमुना के दोआब में आए और कुछ रूस और यूरोप की ओर गए। जो रूस आदि की ओर गए, वे संभव है, यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व किरगीज के मैदान में भी बसे हों और वहाँ से तितर-बितर हुए हों। जिन पशु, पक्षी, वृक्षों आदि का उल्लेख उन्होंने किया है, वे तिब्बत एवं उसके आस-पास प्राप्य हैं।

2.3.1 भारोपीय परिवार का महत्त्व

विश्व के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार का सबसे अधिक महत्त्व है। इसके मुख्य कारण ये हैं-

1. प्रयोगाधिक्य- इस परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है।
1. भौगोलिक व्यापकता- इस दृष्टि से यह परिवार सर्वोत्कृष्ट है। प्रायः सारे विश्व में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं।
2. 3. साहित्यिक उत्कर्ष- विश्व में सबसे उत्कृष्ट और व्यापक साहित्य इस परिवार में है। इसमें कला और विज्ञान के सभी अंगों पर उत्कृष्ट साहित्य है।
3. सांस्कृतिक उत्कर्ष- इस परिवार के भाषाभाषी सभ्यता और संस्कृति में सबसे अग्रगण्य हैं।
4. भाषावैज्ञानिक उत्कर्ष- भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र के अभ्युदय का सर्वाधिक श्रेय इसी परिवार को है। संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच में सर्वाधिक भाषाशास्त्रीय चिन्तन हुआ है।
5. तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्मदाता- इस परिवार की विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्म हुआ है।
6. वैज्ञानिक साहित्योत्कर्ष- इस परिवार की अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि भाषाओं में सर्वांगीण उत्कृष्ट वैज्ञानिक साहित्य है। वैज्ञानिक साहित्य के लिए विश्व की सभी भाषाएँ इस परिवार की ऋणी हैं।
7. राजनीतिक उत्कर्ष- इस परिवार के भाषाभाषी विश्व के प्रायः सभी भागों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं। राजनीतिक कारणों से ही अधिकांश महाद्वीपों में अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, डच, पुर्तगाली आदि भाषाएँ प्रचलित हैं।

मूल भारोपीय ध्वनियाँ

मूल भारोपीय भाषा या आदिम भाषा की कल्पना भाषाशास्त्रियों की बुद्धि की उपज है। 16वीं शती ई. के द्वितीय चरण में इसको मूर्त रूप देने का प्रयास प्रारम्भ हुआ था। इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है। भारतीय विद्वानों का

इस विषय में योगदान नगण्य है। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि के प्राचीन रूपों के आधार पर मूल भारोपीय भाषा (Primitive Indo-European dialect या संक्षेप में I. E.) की ध्वनियों और शब्दों का निर्माण किया गया। यह भाषा और ये ध्वनियाँ पूर्णतया आनुमानिक एवं काल्पनिक हैं, अतः इन्हें 'विद्वद्वैदग्ध्य' ही समझना चाहिए। इस विषय में कोई अन्तिम निर्णय देना संभव नहीं है।

1. मूल स्वर -

(क) ह्रस्व - अ, ऐ, ओ

(ख) दीर्घ - आ, ए, ओ

(ग) उदासीन - ॐ

2 . संयुक्त स्वर - (अ, ए, ओ, ह्रस्व या दीर्घ + इ, उ, ऋ, लृ, न्, म्)

(क) ह्रस्व- अइ, अउ, अऋ, अलृ, अन्, अम्

ऐइ, ऐउ, ऐऋ, ऐलृ, एन्, ऐम्

औइ, औउ, औऋ, औलृ, ओन्, ओम्

(ख) दीर्घ- आइ, आउ, आऋ, आलृ, आन्, आम्

एइ, एउ, एऋ, एलृ, एन्, एम्

ओइ, ओउ, ओऋ, ओलृ, ओन्, ओम्

3. (क) अन्तस्थ (स्वर)- इ, उ, ऋ, लृ, न्, म्

(ख) अन्तस्थ (व्यंजन)- य्, व्, र्, ल्, न्, म्

4. व्यंजन - (क) स्पर्श- 1. क वर्ग- क्, ख्, ग्, घ् (शुद्ध कंठ्य)

क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य् (कंठ-तालव्य)

कव्, खव्, गव्, घव् (कंठ-ओष्ठ)

2. त वर्ग- त्, थ्, द्, ध् (दन्त)

3. प वर्ग- प्, फ्, ब्, भ् (ओष्ठ्य)

(ख) ऊष्म- स् (ज्)

भारोपीय ध्वनियों के विषय में उल्लेखनीय बातें :

1. ह्रस्व मूल स्वर- अ ऐं औं संस्कृत में प्रायः 'अ' हो जाते हैं। ये ग्रीक में पृथक् मिलते हैं।
2. उदासीन ह्रस्व स्वर (ə) अर्ध- ह्रस्व 'अ' है। इसका उच्चारण अस्पष्ट या अनुच्चारित अँ जैसा होता है। इसको अंग्रेजी में श्वा (Schwa) कहते हैं। संस्कृत और अवेस्ता में यह 'इ' के रूप में मिलता है।
3. संयुक्त स्वर या मिश्र स्वर दो प्रकार के हैं- संयुक्त ह्रस्व स्वर और संयुक्त दीर्घ स्वर। इनमें पहला अंश मूल स्वर होता है और दूसरा अन्तस्थ स्वर। अतः ह्रस्व अ ऐं औं या आ ए ओ के बाद ये 6 ध्वनियाँ लगती हैं- इ, उ, ऋ, लृ, न्, म्।
4. यह स्मरण रखें कि मूल भारोपीय भाषा में इ, उ, ऋ, लृ को मूल स्वर नहीं माना जाता है। ये अन्तस्थ य्, व्, र्, ल् के आक्षरिक (Syllabic) रूप माने जाते हैं।
5. अन्तःस्थ का अभिप्राय है- स्वर और व्यंजन के मध्य में। इनकी स्थिति न पूर्णतया स्वर की है और न व्यंजन की। ये आवश्यकतानुसार कभी स्वर हो जाते हैं, तब इन्हें अन्तःस्थ स्वर कहा जाता है। ये हैं- इ, उ, ऋ, लृ। संस्कृत में इन्हें 'संप्रसारण' कहते हैं। संस्कृत में इनके दोनों रूप मिलते हैं य्>इ, यजति-इष्ट, व्>उ, वचन-उक्ति आदि। न्, म् भी स्वनन्त (Sonant) एवं आक्षरिक (Syllabic) हैं।, संस्कृत में अन्तस्थ स्वर न्, म् के स्थान पर 'अ' मिलता है। अन्तस्थ व्यंजन के रूप में ये य्, व्, र्, ल् आदि हैं, आक्षरिक रूप में इनके दीर्घ रूप ई, ऊ, ऋ भी मिलते हैं। अनुनासिक ध्वनियाँ न्, म् ही थीं।
6. मूल भारोपीय ध्वनियों में कवर्ग तीन प्रकार का मिलता है-
(क) शुद्ध कंठ्य- इसका उच्चारण कंठ से होता था। ये ध्वनियाँ संस्कृत में कवर्ग हैं। (ख) कंठ-तालव्य- इनके उच्चारण में कंठ के साथ गौणरूप में

थोड़ी तालु की भी सहायता ली जाती थी। इन ध्वनियों से चवर्ग का विकास हुआ। (ग) कण्ठोष्ठ्य- इनके उच्चारण में कंठ के साथ ओष्ठ की भी थोड़ी सहायता ली जाती थी। यह ध्वनि संस्कृत में कवर्ग रही है तथा ग्रीक एवं लैटिन में क्व् आदि के रूप में है।

7. चवर्ग और टवर्ग ध्वनि मूल भाषा में नहीं थी।
8. ऊष्म ध्वनि स् यदि दो स्वरों के मध्य में आती थी तो उसका उच्चारण सघोष ज् होता था।
9. अन्य विशेषताएँ- (1) दो या अधिक मूल स्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। (2) दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे। (3) अन्तस्थ वर्ण स्वर या व्यंजन के रूप में अन्य वर्णों के साथ आ सकते थे। (4) अनुनासिक स्वरों अँ, ईँ आदि का अभाव था। (5) संधि नियम विद्यमान थे। (6) 'ह' ध्वनि की सत्ता विवादास्पद है। अधिकांश विद्वान् 'ह' ध्वनि की सत्ता को नहीं मानते हैं। (7) कुछ विद्वान् अनुनासिक ध्वनियों में ङ् को भी मानते हैं।

2.3.2 मूल भारोपीय भाषा की विशेषताएँ :

1. मूल भारोपीय भाषा श्लिष्ट योगात्मक थी।
2. प्रत्ययों का आधिक्य था। अतः रूपों की संख्या अधिक थी।
3. मुख्यतया धातुओं से प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते थे।
4. प्रारम्भ में उपसर्गों का सम्भवतः अभाव था। उपसर्गों के स्थान पर पूरे शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द घिसते घिसते अपना स्वतन्त्र अर्थ खो बैठे और बाद में उपसर्ग रह गए।
5. मूल भाषा में तीन लिंग थे- पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग।
6. मूल भाषा में तीन वचन थे- एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।
7. मूल भाषा में तीन पुरुष थे- प्रथम, मध्यम, उत्तम।
8. क्रिया के फल-भोक्ता के आधार पर दो पद थे- आत्मनेपद, परस्मैपद। फल-भोक्ता स्वयं होने पर आत्मनेपद (आत्मने-अपने लिए), फल-भोक्ता दूसरा होने पर परस्मैपद (परस्मै = दूसरे के लिए)।

9. क्रिया-रूपों में वर्तमान, भूत, भविष्यत् की धारणा थी, परन्तु अवान्तर भेदों का अभाव था। क्रिया-निष्पत्ति में काल-विचार (कार्य कब हुआ) गौण था और निष्पत्ति का प्रकार (पूर्ण या अपूर्ण आदि) मुख्य था।
10. मध्यसर्ग (Infix) प्रत्ययों का अभाव था।
11. संज्ञा, क्रिया और अव्यय पृथक् पृथक् थे। सर्वनाम और विशेषण संज्ञा शब्दों के अन्तर्गत थे। अव्ययों में भी रूप परिवर्तन होता था अर्थात् उनके भी रूप चलते थे।
12. सर्वनामों के रूपों में विविधता थी।
13. संज्ञा शब्दों की आठ विभक्तियाँ थीं। संस्कृत में आजकल भी आठ विभक्तियाँ हैं।
14. समास का प्रयोग होता था। समस्त पदों के बीच की विभक्तियों का लोप हो जाता था। संस्कृत में समास का प्रचार बहुत बढ़ा है। जर्मन भाषा में भी समास की प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। हिन्दी और अंग्रेजी में दो या तीन पदों का समास मिलता है।
15. पदरचना में स्वरभेद से अर्थभेद होता था। देव>दैव (देव-संबन्धी)। ग्रीक में कुछ धातुओं में 'ए' लगने से वर्तमानकाल अर्थ होता है और 'ओ' लगने से भूतकाल। अंग्रेजी में Run (दौड़ता है), Ran (दौड़ा)।
16. स्वर (सुर, Accent) संगीतात्मक था। उदात्त आदि स्वरों से अर्थभेद होता था। जैसे- वेद में स्वरभेद से अर्थभेद होता है। ग्रीक में भी स्वरों का प्रयोग था। वर्तमान भाषाओं में संगीतात्मक स्वरों के स्थान पर बलाघात (Stress) स्वरों का प्रयोग होने लगा है।
17. मूलभाषा में अपश्रुति (Ablaut) का प्रयोग था।
18. धातु को द्वित्व करके बहुत से धातुरूप बनाए जाते थे। जैसे- दृश् (देखना) > ददर्श (देखा), घृ (धारण करना) > दधार (धारण किया), गद् (बोलना) > जगाद (बोला)।

2.3.3 भारोपीय परिवार की शाखाएँ

भारोपीय शब्द भारत . यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। यह Indo-European का अनुवाद है। भारोपीय में भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुई भाषाओं का संग्रह है। इस परिवार की दस शाखाएँ हैं-

1. भारत-ईरानी (आर्य)- (क) भारतीय, (ख) ईरानी (Aryan, Indo-Iranian)
2. बाल्टो-स्लाविक- (क) बाल्टिक, (ख) स्लाविक (Balto-Slavic, Letto-Slavic)
3. आर्मीनी (Armenian)
4. अल्बानी (इलीरी) (Albanian, Illyrian)
5. ग्रीक (हेलेनिक) (Greek, Hellenic)
6. केल्टिक (Keltic)
7. जर्मनिक (ट्यूटनिक) (Germanic, Teutonic)
8. इटालिक (Italic)
6. हिटाइट (हिती) (Hittite)
9. तोखारी (Tokharian)

2.3.4 भारोपीय परिवार की विशेषताएँ :

1. रचना की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट योगात्मक (Inflectional) है। इस परिवार की मूल भाषाएँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि संयोगात्मक (Synthetic) थीं, परन्तु इनसे विकसित आधुनिक भाषाएँ हिन्दी, अंग्रेजी आदि वियोगात्मक (Analytic) हो गई हैं। इनमें प्रत्यय का काम परसर्ग आदि से लिया जाता है। जैसे- बालकम् > बालक को, पठति > पढ़ता है। रूसी, लिथुआनी आदि भाषाएँ अब भी विभक्तियुक्त हैं। वर्तमान ईरानी पूर्णतया वियोगात्मक हो गई है। इसका पूरा व्याकरण एक पन्ने पर नोट किया जा सकता है।

2. शब्द-रचना प्रकृति प्रत्यय या अर्थतत्त्व . सम्बन्धतत्त्व के योग से होती थी। यह संयोग बहिर्मुखी था।

3. अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है कि इन प्रत्ययों का स्वतन्त्र कुछ अर्थ था। अंग्रेजी-ly (ली) आदि का स्वतन्त्र अर्थ निकाला गया है, पर शेष संदिग्ध ही हैं। प्रत्यय कभी स्वतन्त्र शब्द थे, यह निष्कर्ष नहीं निकलता है।

4. भारोपीय भाषाओं की धातुएँ प्रायः एकाक्षर थीं।

5. शब्द-निर्मापक प्रत्यय दो प्रकार के थे (क) कृत्, जो सीधे धातु में जोड़े जाते थे। इन्हें Primary Suffixes कहते हैं। जैसे-भू+त=भूत। (ख) तद्धित- ये कृत्-प्रत्यय लगाकर बने हुए शब्दों में जुड़ते हैं। जैसे- भूत+इक=भौतिक। इन्हें Secondary Suffixes कहते हैं। शब्द या धातु से पद बनाने के लिए दो प्रकार के प्रत्यय लगते थे (क) सुप् (Case-indicating Suffixes), संज्ञाशब्दों से कारक- चिह्न, (ख) तिङ् (Verbal Suffixes) धातुओं से काल आदि बोधक चिह्न। ये पद- निर्मापक प्रत्यय हैं।

6. सम्बन्धतत्त्व के बोधक उपसर्गों का अभाव था। प्रारम्भ में उपसर्ग स्वतन्त्र शब्द थे। उनका क्रिया के साथ और क्रिया से पृथक् भी प्रयोग होता था। बाद में ये उपसर्ग अपना स्वतन्त्र अर्थ खोने के कारण वाचक न होकर विभिन्न अर्थों के द्योतक (व्यंजक, सूचक) हो गए। इनके कारण धातुओं के अर्थ में परिवर्तन होता है। द्योतक होने पर धातु से पृथक् प्रयुक्त नहीं होते। जैसे आचार, विचार, संचार, प्रचार आदि। ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि में भी यही प्रवृत्ति है।

7. वाक्य-रचना पदों से होती थी, शब्दों से नहीं। शब्दों से सुप् प्रत्यय (कारक-चिह्न) लगाकर तथा धातुओं से तिङ् प्रत्यय (काल आदि के चिह्न) लगाकर पद बनते थे। पदों का ही वाक्य में प्रयोग होता था।

8. समास की प्रवृत्ति- पदों को समस्त कर बृहत् पद बनाने की प्रवृत्ति मूल भारोपीय भाषा में थी। वह भारोपीय परिवार में भी रही। समस्त पदों में बीच की विभक्तियों का लोप हो जाता था। समस्त पद लुप्त विभक्ति का भी अर्थ बताते थे। समस्त पदों का स्वतन्त्र अर्थ होता था। संस्कृत में अलुक् समासवाले पद भी हैं, जिनमें बीच की विभक्ति का लोप नहीं होता। जैसे- सरसिज, मनसिज, युधिष्ठिर, परस्मैपद, आत्मनेपद आदि। संस्कृत, जर्मन और आयलैण्ड की वेल्श भाषा में यह प्रवृत्ति आज भी है। संस्कृत में सुबन्धु, बाण आदि के गद्य इसके उदाहरण हैं। वेल्श भाषा में एंग्लसी द्वीप के एक गाँव के समासयुक्त नाम में 58 वर्ण हैं।

9. अपश्रुति (Vowel-gradation)- मूल भारोपीय भाषा में उदात्त स्वर के कारण स्वरभेद (गुण, वृद्धि, दीर्घ) होता था। भारोपीय भाषाओं में मूल प्रत्ययों का लोप हो गया

और स्वर-परिवर्तन से ही अर्थ परिवर्तन का काम लिया जाने लगा। जैसे-अंग्रेजी की बली धातुओं में Drink-Drank-Drunk; Ring-Rang-Rung आदि। संस्कृत में देव > दैव, विधि > वैध, कुमार > कौमार।

10. प्रत्ययों का आधिक्य भारोपीय भाषा में प्रत्ययों की अधिकता है। मूल भाषा से पृथक् होकर अनेक भाषाएँ विकसित हुई। अनेक मूल प्रत्यय इस संक्रमण काल में नष्ट हो गए। उनके स्थान पर नये नये सम्बन्धों को बताने के लिए नये प्रत्यय बनाये गए। अतः प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई। भारोपीय परिवार की विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है-

भारोपीय-परिवार-वैशिष्ट्यं दशकं मतम् ।

श्लिष्टयोगात्मकत्वं तु, प्रकृति-प्रत्ययात्मता ॥1॥

एकाक्षरत्वं धातूनां, सुप्-तिडौकृच्च तद्धिताः ।

स्वातन्त्र्यमुपसर्गाणां, पदमूला च वाक्यता ॥2॥

प्रत्ययार्थानभिव्यक्तिः, समासाभिरुचिस्तथा ।

अपश्रुतेः प्रयोगश्च, प्रत्ययाधिक्यमेव च ॥3॥

भारोपीय परिवार की भाषाओं का परिचय

(1) भारत-ईरानी (आर्य) भाषाएँ - इस शाखा की भाषाओं का परिचय एवं विवरण स्वतन्त्र रूप से आगे प्रस्तुत किया जायेगा है।

(2) बाल्टो-स्लाविक भाषाएँ (लेटो-स्लाविक)- बाल्टो-स्लाविक को लेटो-स्लाविक भी कहते हैं। इस उपपरिवार की दो शाखाएँ बाल्टिक (या लेट्टिक) और स्लाविक। इन शाखाओं में निम्नलिखित भाषाएँ परिगणित हैं-

(क) बाल्टिक- प्रशियन, लिथुआनियन, लेट्टिक।

(ख) स्लाविक- (1) पूर्वी- महारूसी, श्वेतरूसी, लघुरूसी (रूथेनी)।

(2) पश्चिमी- जेक, पोलिश, स्लोवाकी।

(3) दक्षिणी बल्गेरी, सर्बो-क्रोटी।

(क) बाल्टिक (Baltic)-

बाल्टिक सागर के तट पर बोली जाने वाली भाषाओं को बाल्टिक कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ हैं- प्राचीन प्रशियन, लिथुआनियन और लेट्टिक। (1) प्राचीन प्रशियन- यह प्रशा की भाषा थी। यह 17वीं शताब्दी ई. में लुप्त हो गई। जर्मन-प्रशियन कोशग्रन्थों से इसका पता चलता है। इसके बोलने वाले अब जर्मन बोलते हैं। (2) लिथुआनियन- यह लिथुआनिया प्रदेश की भाषा है। प्रथम महायुद्ध के बाद यह स्वतन्त्र हुआ और अब सोवियत (रूसी) राष्ट्रसंघ में है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह भाषा बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें भारोपीय भाषा के प्राचीनतम रूप प्राप्त होते हैं। इसकी तुलना चतुर्थ शताब्दी ई. की गाथी भाषा के रूपों से कर सकते हैं। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये हैं- (अ) भाषा में प्राचीन संगीतात्मक सुर (Musical accent), जो कि वैदिक संस्कृत एवं ग्रीक भाषा की विशेषता थी। (ब) द्विवचन के रूप। इसका साहित्य 16वीं शताब्दी ई. से मिलता है। (3) लेट्टिक- यह लेटविया राज्य की भाषा है। यह अब रूस का अंग है। इसका साहित्य भी 16वीं शताब्दी ई. से मिलता है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है।

(ख) स्लाविक (Slavic)- इस वर्ग की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ ये हैं-

1. ये संस्कृत के तुल्य शिल्पित योगात्मक हैं। शब्दरूप, धातुरूप संस्कृत के तुल्य चलते हैं।

2. भाषाओं में बलाघात का प्रयोग भी होता है। बलाघात से अर्थभेद होता है। स्लाविक भाषा के क्षेत्र की दृष्टि से तीन भेद हैं-

1. पूर्वी स्लाविक- इसमें तीन भाषाएँ आती हैं- महारूसी, श्वेतरूसी और लघुरूसी (रूथेनी)। (क) महारूसी (Great Russian)- इसको 'रूसी' भी कहते हैं। यह रूस (सोवियत संघ) की राष्ट्रभाषा और राजभाषा है। इसमें ही शिक्षा, प्रशासन आदि कार्य होते हैं। रूस ने विगत तीन दशकों में आशातीत वैज्ञानिक और प्राविधिक (तकनीकी) उन्नति की है। इसका साहित्य 11वीं शती ई. से मिलता है। यह रूस के प्रमुख नगर मास्को से फैली है और अब संसार की प्रमुख भाषाओं में है। रूसी भाषा का विकास 18वीं सदी से प्रारम्भ हुआ है। यह तभी से राष्ट्रभाषा और राजभाषा है।

इसमें उच्च कोटि के लेखक हुए हैं, जैसे तुर्गनिव, टाल्सटॉय, गोर्की आदि। इसके बोलने वालों की संख्या 15 करोड़ से अधिक है। यह एक प्रभावशाली भाषा है।

(ख) श्वेतरूसी (White Russian) – श्वेत-रूसी रूस के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है। (ग) लघुरूसी (Little Russian)– इसको रूथेनियन (रूथेनी) भी कहते हैं। यह रूस के दक्षिणी भाग (यूक्रेन) में बोली जाती है। यह हंगरी तक फैली हुई है। इसका भी साहित्य नगण्य है।

2. पश्चिमी स्लाविक– इसमें तीन भाषाएँ परिगणित होती हैं जेक, पोलिश और स्लोवाकी। (क) जेक (Czech) – यह जेकोस्लोवाकिया की भाषा है। यह मुख्यतया बोहेमिया में बोली जाती है, अतः इसे बोहेमियन भी कहते हैं। इसका साहित्य 13वीं सदी से मिलता है। गत शताब्दी से इसकी विशेष प्रगति हुई है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 80-90 लाख है। (ख) पोलिश (Polish)– यह पोलैंड की भाषा है। इसका प्राचीनतम साहित्य 1290 ई. से मिलता है। इस भाषा को नष्ट करने के अनेक प्रयत्न हुए, परन्तु यह भाषा-प्रेम के कारण जीवित रही। गत शताब्दी से इसकी विशेष उन्नति हुई है और आशा है, शीघ्र ही यह विश्व की महान् भाषाओं में स्थान प्राप्त करेगी। इसके बोलने वालों की संख्या 4 करोड़ के लगभग है। (ग) स्लोवाकी (सवओंपंद)– यह जेक की ही विभाषा है। इसकी कोई मुख्य विशेषता नहीं है। बल्गेरी और सर्वो-क्रोटी।

3. दक्षिणी स्लाविक इसमें दो भाषाएँ मुख्य हैं– (क) बल्गेरी (Bulgarian) – यह बल्गेरिया की भाषा है। इसका प्राचीन रूप ‘चर्च स्लाविक’ या ‘प्राचीन बल्गेरी’ तुलनात्मक व्याकरण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें 9वीं सदी से लेकर 12वीं सदी तक बाइबिल आदि का अनुवाद तथा धर्मग्रन्थ सिरिल और मेथोडियस नामक बिशपों ने लिखा है। चर्च स्लाविक संस्कृत और ग्रीक के बहुत निकट है। इसमें तीनों वचन हैं। वर्तमान रूसी लिपि का निर्माण सिरिल (Cyril) ने ही किया था, अतः उसे सिरिलिक कहते हैं। वर्तमान बल्गेरी वियोगात्मक हो गई है। इसमें बहुत से शब्द तुर्की, ग्रीक, रूमानी और अल्बानी के आ गए हैं। (ख) सर्वो-क्रोटी (Serbo-Croatian)– यह यूगोस्लाविया की भाषाओं का समूह है। यह स्लाविक भाषाओं में महत्वपूर्ण है। इसका

प्राचीन साहित्य 12वीं सदी से मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 2 करोड़ है।

(3) आर्मीनी (Armenian)

यह आर्मीनिया की भाषा है। इसकी सीमा ईरान से मिली हुई है, अतः इसमें दो हजार से अधिक शब्द ईरानी भाषा के आ गए हैं। 428 ई. तक ईरान का युवराज ही यहाँ शासन करता था। शिक्षा, कला, शासन-कार्य आदि में अधिकांश फारसी शब्द ही प्रयुक्त होते हैं। इसलिए इसे पहले आर्य परिवार की ईरानी शाखा में रखने का प्रस्ताव था, परन्तु बाद में विशेष अध्ययन के पश्चात् इसे स्वतन्त्र भाषा माना गया। यह श्लिष्ट योगात्मक भाषा है तथा इसकी ध्वनियाँ ईरानी से भिन्न हैं। यह आर्य परिवार और बाल्टो स्लाविक भाषाओं के मध्य संयोजक कड़ी मानी जाती है। इसका स्वरूप ग्रीक और भारत-ईरानी के बीच का है।

इसके बोलने वालों की संख्या 50 लाख के लगभग है। आधुनिक आर्मीनी की स्तम्बूल बोली कुस्तुन्तुनिया और कालासागर के किनारे के भाग में बोली जाती है। आर्मीनी में ईसाई साहित्य अधिकांश में है। यह 11वीं सदी से प्रारम्भ होता है। इसमें वान (Van) से प्राप्त कीलाक्षर अभिलेख (Cuneiform Inscriptions) ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। जिस प्रकार भारत में पुरोहित संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार आर्मीनिया के पुरोहित प्राचीन आर्मीनी का ही प्रयोग करते थे। आर्मीनी के वर्तमान समय में दो रूप हैं- 1. स्तम्बूल- यह यूरोप वाले क्षेत्र में बोली जाती है। 2. अरारट- यह एशिया वाले क्षेत्र में बोली जाती है।

(4) अल्बानी (इलीरी) (Albanian] Illyrian)

अल्बानी भाषा प्राचीन इलोरी भाषा का ही वर्तमान अवशिष्ट रूप है। इलोरो का पहले विस्तृत क्षेत्र में प्रचार था। पहले इसे अलग भाषा नहीं माना जाता था, परन्तु ध्वनि- समूह और गठन के आधार पर इसे स्वतन्त्र भाषा माना गया है। इस पर ग्रीक, तुर्की और स्लाविक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें कुछ प्राचीन अभिलेख मिलते हैं। यह एड्रियाटिक सागर के पूर्वी पहाड़ी प्रदेश की भाषा है। इसके बोलने

वालों की संख्या लगभग 15 लाख है। इसमें प्राचीन साहित्य का अभाव है। 17वीं सदी से साहित्य का विकास हुआ है। 16वीं सदी का बाइबिल का अनुवाद मिलता है।

(5) ग्रीक (हेलेनिक) (Greek, Hellenic)

इसका क्षेत्र ग्रीस, दक्षिणी अल्बानिया और यूगोस्लाविया, बल्गेरिया-टर्की-साइप्रस का कुछ भाग है। इसमें प्राचीन काल में बहुत सी बोलियाँ थीं, जिनमें एट्रिक (Attic) और डोरिक (Doric) मुख्य थीं। इसमें सबसे पुराने ग्रन्थ होमर के दो महाकाव्य हैं- इलियड (Iliad) और ओडिसी (Odyssey)। इनका समय 1000 ई. पू. माना जाता है। इनमें उक्त दोनों बोलियों का मिश्रण है। दोनों बोलियों में मुख्य अन्तर यह रहा है कि मूल भारोपीय भाषा की आ (a) ध्वनि एट्रिक में ए (e) हो गई है और डोरिक में आ (a) ही रही। जैसे I. E. Mater (सं. मातर्) > एट्रिक Meter, डोरिक-Mater। ग्रीस में सामान्य रूप से प्रचलित जन-भाषा को 'कोइने' (Koine) कहते थे। साहित्यिक ग्रीक का आधार एट्रिक भाषा थी। यही ग्रीस की जनभाषा थी।

संस्कृत और ग्रीक में समानताएँ- वैदिक संस्कृत और ग्रीक की तुलना करने पर बहुत-सी समानताएँ दिखाई पड़ती हैं-

(1) संस्कृत और ग्रीक में मूल भारोपीय ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। मूल भारोपीय व्यंजन संस्कृत में अधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं और ग्रीक में स्वर। मूल भाषा में मिश्रित स्वरों की संख्या अधिक थी।

(2) दोनों में संगीतात्मक स्वर (Pitch Accent) है।

(3) संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के रूप संस्कृत में अधिक व्यापक हैं। ग्रीक में कारक के कुछ अवशेष ही मिलते हैं।

(4) संस्कृत और ग्रीक दोनों में अव्ययों (उपसर्ग एवं क्रियाविशेषण) की बहुलता है। वैसे दोनों में अव्यय शब्द पृथक् पृथक् हैं।

(5) दोनों में द्विवचन मिलता है।

(6) दोनों के क्रियारूपों में भी समानता है- (क) दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद हैं। ग्रीक में इनको क्रमशः Active Voice और Passive Voice कहते हैं।

(ख) संस्कृत में क्रियारूपों में गणों के रूप तथा णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप ग्रीक से अधिक है। (ग) ग्रीक में निष्ठा-रूप (भूतकालिक कृत् प्रत्यय), तुम् अर्थ वाले प्रत्यय, क्त्वा अर्थ वाले प्रत्यय तथा धातुज् कृदन्त शब्द संस्कृत से अधिक है।

(7) दोनों में समास की सुविधा है। समास में संस्कृत आगे निकल गई है। ग्रीक में भी 3-4 पंक्ति वाले लम्बे समास कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

यूरोपीय सभ्यता का स्रोत ग्रीक भाषा है। इससे ही यूरोपीय साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि का विकास हुआ है। ग्रीक वर्णमाला से ही यूरोप की सभी लिपियों का विकास हुआ है। प्राचीन और नवीन ग्रीक में बहुत कम भेद है। ग्रीक के नवीन छात्र भी थोड़े से परिश्रम से होमर के महाकाव्य समझ लेते हैं। ग्रीक के विकास के चार युग हैं— (1) होमर युग, (2) साहित्यिक युग, (3) संक्रमण युग, (4) वर्तमान युग। ग्रीक का वर्तमान साहित्यिक युग 1800 ई. से प्रारम्भ होता है।

(6) केल्टिक (Keltic)

लगभग 2 हजार वर्ष पहले (280 ई. पू. के लगभग) यह भाषा यूरोप के बहुत बड़े भूभाग में बोली जाती थी। यह पूर्व में एशिया माइनर (वर्तमान तुर्की) तक फैली हुई थी। अब यह यूरोप के पश्चिमी भाग में ही सीमित रह गई है। फ्रांस के पश्चिमोत्तर भाग तथा ग्रेट ब्रिटेन (स्कॉटलैंड, आयरलैंड, वेल्स) में बोली जाती है।

इसके मुख्य 2 वर्ग हैं— (1) क-वर्ग, (2) प-वर्ग। कुछ भाषाओं में मूल भारोपीय प-ध्वनि 'प' रहती है और कुछ में 'क' हो जाती है। जैसे— पेंक्व (सं. पंच) > वेल्श में पम्प (Pump) और आयरिश में कोइक (Coic) हो जाता है। क-वर्ग (गेलिक) में— आयरिश मुख्य है। प-वर्ग (ब्रिटानिक) में— वेल्श (मसी) और ब्रिटन (Breton) मुख्य है।

आयरलैंड में अंग्रेजों के प्रभुत्व के साथ अंग्रेजी की प्रधानता थी। जब देश स्वतंत्र हुआ, तब से आयरिश (Irish) भाषा का प्रचार हो गया है। वर्तमान आयरिश का प्रचार 17वीं सदी के प्रारम्भ से हुआ है। वेल्श का साहित्य 8वीं सदी से मिलता है। इसके गौरव का समय 1000 से 1300 ई. था। ये ब्रिटन फ्रांस के पश्चिमोत्तर भाग

में बोली जाती है। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं (1) भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा की अस्पष्टता और क्लिष्टता। (2) वाक्य-रचना जटिल।

केल्टिक और इटालिक भाषाओं में पर्याप्त साम्य है। जैसे—(1) ओकारान्त पुं. और नपुं. शब्दों से षष्ठी (सम्बन्धकारक) में 'ई' प्रत्यय। (2) 'शन' (tion) प्रत्यय लगाकर क्रियार्थक संज्ञारूप। (3) कर्मवाच्य की बनावट प्रायः समान है।

(7) जर्मनिक या ट्यूटोनिक (Germanic, Teutonic)

इसका क्षेत्रीय विभाजन इस प्रकार है—

पूर्वी क्षेत्र— गाथिक (Gothic)

उत्तरी क्षेत्र— आइसलैण्डिक (आइसलैण्ड में)

नार्वेजियन (नार्वे में)

डेनिश (डेन्मार्क में)

स्वीडिश (स्वीडन में)

पश्चिमी क्षेत्र— अंग्रेजी (English) (इंग्लैण्ड में)

उच्च जर्मन (High German) (दक्षिणी जर्मनी में)

निम्न जर्मन (Low German) (उत्तरी जर्मनी में)

डच (Dutch) (हालैण्ड में)

फ्लेमिश (Flemish) (बेल्जियम में)

यह भारोपीय परिवार की सबसे अधिक विस्तृत भूभाग में बोली जाने वाली भाषा है। इसकी एक शाखा अंग्रेजी, विश्व में सबसे अधिक फैली हुई है। उपनिवेशवाद के कारण यह विश्व में चारों ओर फैली हुई है। यह विश्वभाषा का रूप ले सकती है। जर्मन और डच भाषा का साहित्य भी उच्च कोटि का है।

साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेजी का स्थान महत्वपूर्ण है। दर्शन, विज्ञान और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जर्मन भाषा का स्थान अंग्रेजी से उच्च एवं महत्वपूर्ण है।

जर्मनिक-ट्यूटोनिक जर्मन और ट्यूटन नाम के आधार पर इस शाखा को जर्मनिक या जर्मनिक कहते हैं। 'जर्मनी' शब्द का प्रयोग केल्टो ने ईसा पूर्व प्रथम

शताब्दी में 'पड़ोसी' के अर्थ में किया था। 'ट्यूटन' शब्द से जर्मन, इंग्लिश आदि सभी जातियों का बोध होता है, अतः इस शाखा को 'ट्यूटानिक' भी कहते हैं।

संक्षिप्त परिचय-1. गाथिक- यह जर्मनिक शाखा की सबसे प्राचीन भाषा है। इसका सबसे प्राचीन ग्रन्थ बिशप बुल्फालास (Bishop Wulfilas, 311-381 ई.) लिखित 'गाथिक बाइबिल' है। इसके वाक्यविन्यास पर ग्रीक का प्रभाव है। यह भाषा संयोगात्मक है। इसमें द्विवचन है। यह संस्कृत के बहुत समीप है।

2. अंग्रेजी एंगल (Angle)- जाति के कारण भाषा का नाम इंग्लिश (English) पड़ा। इसका काल-विभाजन है- (क) आदिकाल 1100 से 1350 ई., (ख) मध्यकाल-1450 ई. तक, (ग) आधुनिक काल 1450 ई. के बाद। लन्दन के आसपास की भाषा राजभाषा हुई।

3. निम्न जर्मन- यह जर्मनी के उत्तरी क्षेत्र निम्न भूभाग में बोली जाती है। भूमि की निचाई के कारण निम्न नाम है, निम्नवर्ग की भाषा के आधार पर नहीं। इसका साक्षात् सम्बन्ध अंग्रेजी से है। ग्रिम द्वारा प्रसारित 'ग्रिम नियम' 'प्रथम ध्वनि परिवर्तन', जो कि ईसा से पूर्व हुआ था, निम्न जर्मन और अंग्रेजी दोनों पर लागू होता है। 'द्वितीय वणं परिवर्तन', जो सातवीं सदी ई. में हुआ, केवल निम्न और उच्च जर्मन पर लागू होता है। 'ग्रिम नियम' से संस्कृत और अंग्रेजी के ध्वनि परिवर्तन का ज्ञान होता है।

4. उच्च जर्मन - यह जर्मनी के दक्षिणी पहाड़ी भाग में बोली जाती है। भू-भाग की ऊँचाई के कारण इसे उच्च (High) कहते हैं, उच्च वर्ग की भाषा के आधार पर नहीं। इसका साहित्य 8वीं सदी से मिलता है। आधुनिक जर्मन का प्रारम्भ लूथर की 'जर्मन बाइबिल' से माना जाता है। यह संयोगात्मक भाषा है, इसका साहित्य समृद्ध है। इसमें प्राचीन शब्द और ध्वनियाँ मिलती हैं। इसमें नए शब्द निर्माण की अपूर्व क्षमता है। इसमें भाषा में अंग्रेजी, फ्रेंच आदि से शब्द उधार लिए गए हैं, पर उन्हें जर्मन रूप दे दिया गया है। इसमें समासयुक्त पद बनाने की विशेष सुविधा है।

सामान्य विशेषताएँ-(1) ये भाषाएँ मूल रूप में संयोगात्मक थीं। बाद में वियोगात्मक हो गईं। जर्मन भाषा भी वियोगात्मक है। (2) जर्मन भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। 'ग्रिम नियम' उल्लेखनीय है।

(3) इनमें बलाघात स्वर का प्रयोग होता है। स्वीडिश भाषा में अभी तक संगीतात्मक स्वर है।

(4) धातुएँ सबल और निर्बल दो भागों में विभक्त हैं। सबल में भूतकाल के रूप में धातु के अन्दर ही स्वर का परिवर्तन हो जाता है। जैसे Sing > Sang, Come > Came, Dig > Dug आदि। निर्बल में धातु के अन्त में भूतकाल में ed लगता है। Walk > Walked, Learn > Learned।

(8) इटालिक या रोमान्स (Italic, Romance)

इटालिक या रोमान्स वर्ग का क्षेत्रीय विभाजन इस प्रकार है-

(क) इटालियन (Italian)- इटली, सिसिली, कोर्सिका में।

(ख) फ्रेंच (French, फ्रांसीसी) फ्रांस में।

(ग) स्पेनिश (Spanish, स्पेनी) स्पेन में।

(घ) रूमानियन (Roumanian, रूमानी) रूमानिया में।

(ङ) पुर्तगाली (Portuguese, पोर्चुगीज) पुर्तगाल में।

रोमान्स वर्ग की भाषाओं का विकास लैटिन से हुआ है। लैटिन मूलतः रोम और उसके समीपवर्ती जिले की भाषा थी। इसका सबसे पुराना साहित्य छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक का मिलता है। रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ इसका विस्तार हुआ और उसके पतन के साथ इसका पतन भी हुआ। इससे निकली भाषाएँ अपने स्थानों पर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुईं। यह रोमन कैथोलिक संप्रदाय की आज भी धार्मिक भाषा है, जैसे- संस्कृत आर्यों की। इसमें ग्रीक के तुल्य रूपों की बहुलता नहीं है, पर प्राचीन सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। 'रोमान्स' शब्द लैटिन Romanicé (रोमानिके) से निकला है, जिसका अर्थ है- रोमन या रोम निवासियों का।' रोम-निवासी अठखेलियों और प्रेम-प्रसंगों के लिए बहुत प्रसिद्ध है, अतः 'रोमान्स' शब्द प्रेमलीलाओं आदि के लिए बहुत प्रचलित हो गया है।

लैटिन से ही फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, रूमानियन और पुर्तगाली का विकास हुआ है। इनमें रचनात्मक की अपेक्षा ध्वन्यात्मक भेद अधिक है। फ्रेंच में ध्वन्यात्मक भेद

सबसे अधिक है। इसमें लिखित और उच्चरित रूप में बहुत अन्तर हो जाता है। अन्तिम व्यंजन ध्वनियों का प्रायः उच्चारण नहीं होता है। फ्रेंच भाषा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत है। यह 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक यूरोप की साहित्यिक, सांस्कृतिक और कूटनीतिक भाषा मानी जाती थी। यह आज भी फ्रांस के अतिरिक्त जेनेवा, कनाडा आदि में जनभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। इसका प्राचीनतम अभिलेख 842 ई. का मिलता है।

इटालियन इटली की राजभाषा है। स्पेनिश स्पेन की भाषा है। रूमानियन रूमानिया में बोली जाती है। पुर्तगाली पुर्तगाल की भाषा है। इटालियन का साहित्य बहुत समृद्ध है। स्पेनिश और पुर्तगाली में भी अच्छा साहित्य है। ये भाषाएँ अपने उपनिवेशों में भी बोली जाती हैं। जैसे- कनाडा में फ्रेंच, मैक्सिको में स्पेनिश, दक्षिणी अमेरिका में स्पेनिश और पुर्तगाली। लैटिन से उत्पन्न भाषाओं के प्रयोग के कारण दक्षिणी अमेरिका को 'लैटिन अमेरिका' कहा जाता है।

मुख्य विशेषताएँ- (1) लैटिन श्लिष्ट योगात्मक भाषा थी। उससे विकसित भाषाएँ योगात्मक से अयोगात्मक हो गई हैं।

(2) लैटिन में संस्कृत के तुल्य विभक्तियाँ थीं, परन्तु इन भाषाओं में विभक्तियों का कार्य उपसर्गों और निपातों से लिया जाता है।

(3) लैटिन में तीन लिंग थे। इनमें केवल दो लिंग हैं- पुलिंग, स्त्रीलिंग। लैटिन के नपुं. शब्द इनमें पुं. या स्त्री. में आते हैं।

(4) इनमें दो वचन ही हैं- एकवचन, बहुवचन।

(5) क्रियारूपों में भेद हो गया है। लैटिन की अपेक्षा इनके क्रियारूपों में अधिक जटिलता आ गई है। कालों और रूपों में बहुलता हो गई है।

(6) इन सभी में वाक्यरचना में एकरूपता है। शब्द भंडार में भी प्रायः समानता है।

(7) इन सभी में आर्टिकिल (Le, La आदि अंग्रेजी The के तुल्य) का प्रयोग होता है। फ्रेंच में पुं. के पूर्व Le, स्त्री. के पूर्व La, बहु. Les आदि।

(8) लैटिन में संस्कृत के तुल्य विभक्तियाँ होने से पदक्रम में अन्तर होने पर अर्थभेद नहीं होता था। अयोगात्मक हो जाने से इनमें पदक्रम का महत्त्व है। पदक्रम में भेद से अर्थभेद हो जाता है।

(9) हिटाइट (हिट्टाइट, हिती, Hittite)

ह्युगो विकलर (Hugo Winckler) को 1893 ई. में टर्की के बोगाजकोई (Boghaz Kuei, अंकारा से 90 मील पूर्व) से कुछ कीलाक्षर अभिलेख (Cuneiform Inscriptions) मिले थे। 1905 से 1907 ई. तक पुनः इस खुदाई में हजारों अभिलेख मिले। इनके अध्ययन से हिटाइट भाषा का ज्ञान हुआ। हिटाइट साम्राज्य 1900 ई. पू. से 1650 ई. पू. तक था। ये अभिलेख उससे संबद्ध हैं, अतः इनका समय 2000 ई. पू. के लगभग माना जाता है। विश्व में सबसे प्राचीन ये ही अभिलेख माने जाते हैं। इनके बारे में प्रारम्भ में बहुत विवाद था कि यह सेमिटिक परिवार की भाषा है या भारोपीय परिवार की। प्रो. ह्यजुनी (Hrozney) ने 1917 ई. में अपने ग्रन्थ में सिद्ध किया कि यह भारोपीय परिवार की ही भाषा है। यह भी सिद्ध हुआ कि हिटाइट और तोखारी भाषाएँ यद्यपि शतम्-वर्ग के क्षेत्र में हैं, तथापि ये केन्टुम् वर्ग की भाषाएँ हैं। प्रो. स्टुर्टवेंट (E. H. Sturtevant) ने इसे भारोपीय परिवार की पुत्री न मानकर बहिन माना है और भारोपीय परिवार को 'भारत-हिती' परिवार कहना अधिक उपयुक्त माना है।

मुख्य विशेषताएँ- (1) हिटाइट में संज्ञाओं, विशेषणों और सर्वनामों के केवल दो ही लिंग हैं- पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग। स्त्रीलिंग नहीं है।

(2) हिटाइट में 6 कारक हैं। अधिकरण (सप्तमी) नहीं है।

(3) सर्वनाम भारोपीय सर्वनामों से बहुत मिलते हैं, विशेषतः लैटिन से।

जैसे- हिटाइट	लैटिन	संस्कृत	अर्थ
उक (उग)	एगो	अहम्	मैं
क्विस, क्विद्	क्विस, क्विद्	चिद्	कौन
क्विस्किव	क्विस्त्वम्	कश्चिद्	कोई
क्विसा	क्विस्क	कस्कः	कोई भी

(4) क्रियारूप सरल है। दो काल हैं- वर्तमान और भूत। दो वृत्तियाँ (Mood) हैं- निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। णिच् और यङ् दो प्रक्रियाएँ हैं। अदादिगण के तुल्य विकरण-रहित धातुरूप बहुत हैं। जैसे- या (बनाना) के रूप। संस्कृत के समकक्ष रूप तुलना के लिए कोष्ठक में दिए हैं।

वर्तमान	(लट्)	भूत	(लङ्)	आज्ञा अर्थ	(लोट्)
येजि	(याति)	येत्	(अयात्)	यातु	(यातु)
येसि	(यासि)	येर्	(अयुः)	येन्तु	(यान्तु)
यामि	(यामि)	यातेन	(अयात)	या	(याहि)

(5) क्रिया और संज्ञा में द्विरुक्ति का प्रयोग है।

(6) वचन तीन है। द्विवचन का प्रयोग कम है।

(7) योगात्मकता के साथ ही अयोगात्मकता के भी लक्षण मिलते हैं। निपात, सहायक क्रियाएँ आदि हैं।

(8) सुबन्त और तिङन्त की विभक्तियों में समानता है।

(9) वैदिक देवों के नाम कुछ अन्तर से मिलते हैं। जैसे- मरुतश् (सं. मरुतः), सुरियश् (सूर्य), इन्दर (इन्द्रः), उरुवन (वरुणः)।

(10) संज्ञा शब्दों में भी समानता है। जैसे- लमन् (सं. नामन्), केमन्ज (सं. हेमन्त)।

(10) तोखारी (Tokharian)

फ्रेंच और जर्मन विद्वानों ने 20वीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के तुर्फान प्रदेश में भारतीय लिपि (ब्राह्मी और खरोष्ठी) में लिखे, अनेक ग्रन्थ और पत्र प्राप्त हुए हैं। इनके अध्ययन के पश्चात् प्रो. सीग (Sieg) ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह भारोपीय परिवार में केन्टुम् वर्ग की भाषा है।

इसके बोलने वाले 'तोखर' लोग थे। महाभारत में इन्हें 'तुषाराः' कहा है। ग्रीक में इन्हें तोखराई कहा गया है। तोखरों का राज्य मध्य एशिया में द्वितीय शताब्दी ई. पू. से 7वीं सदी ई. तक था। इसे हूणों ने नष्ट किया था।

मुख्य विशेषताएँ- (1) मूल भारोपीय स्वर सरल हो गए हैं। दीर्घ आदि मात्राएँ उपेक्षित हैं। व्यंजनों की संख्या कम है। भारोपीय व्यंजनों में से क-त-प ही अवशिष्ट हैं।

(2) कारक 6 है। प्रधान कारक तीन हैं-कर्ता, कर्म और सम्बन्ध। एकवचन में भारोपीय रूपों से साम्य है। बहुवचन में कर्ता और कर्म में साम्य है।

(3) तोखारी में द्विवचन है। यह हिटाइट में नहीं है।

(4) संख्याएँ भारोपीय ही हैं। सौ के लिए 'कन्ध' शब्द है, अतः केन्टुम् वर्ग में है।

(5) सर्वनाम भारोपीय परिवार के तुल्य हैं।

(6) संधि-नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं।

(7) क्रियारूप हिटाइट की अपेक्षा जटिल हैं। शतृ प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं।

(2) द्राविड परिवार

इस परिवार की भाषाएँ भी भारतीय भाषाएँ हैं, अतः इस परिवार का भी संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाना युक्ति संगत होगा। इसकी प्रमुख भाषाएँ और क्षेत्र इसप्रकार हैं-

1. तमिल (तमिलनाडु में)
2. तेलुगु (आन्ध्र प्रदेश में)
3. कन्नड़ (कर्नाटक में)
4. मलयालम (केरल में)

इसी परिवार में गोंडी (मध्य प्रदेश, बुन्देलखण्ड), कुरुख या ओराओं (बिहार, उड़ीसा), ब्राहुई (बलूचिस्तान) भाषाएँ भी हैं।

संक्षिप्त परिचय- (1) तमिल- यह तमिलनाडु और श्रीलंका में बोली जाती है। तृतीय शताब्दी ई. पू. से इसका साहित्य मिलता है। यह अत्यन्त समृद्ध भाषा है। (2) तेलुगु- आन्ध्रप्रदेश की भाषा है। आंध्र जाति का नाम ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत और अशोक के अभिलेखों में मिलता है। इसके बोलने वालों की संख्या 5 करोड़ के लगभग है। इसमें संस्कृत शब्द बहुत समाविष्ट हैं। 11वीं सदी से इसका साहित्य मिलता है। इसमें भी तमिल के तुल्य उच्चकोटि का साहित्य है। भाषा में माधुर्य है। तेलुगु

भाषी बहुत वीर और सभ्य रहे हैं। हिन्दी में 'तिलंगा' शब्द सैनिक का वाचक है। (3) कन्नड़- कर्नाटक राज्य की भाषा है। लिपि तेलुगु से और भाषा तमिल से मिलती-जुलती है। पद्य की भाषा में कृत्रिमता है। इसमें भी उच्च साहित्य है। (4) मलयालम- केरल की भाषा है। संस्कृत शब्दों की बहुलता है। यह तमिल की पुत्री या एक शाखा है। इसमें 13वीं सदी से उच्चकोटि का साहित्य मिलता है। द्राविड़ भाषा-भाषियों की संख्या 10 करोड़ के लगभग है।

मुख्य विशेषताएँ - (1) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं।

(2) इनमें ए-ऐ, ओ ओ ह्रस्व और दीर्घ दोनों हैं।

(3) इनमें यूराल-अल्ताई परिवार के तुल्य स्वर-अनुरूपता है।

(4) इनमें अन्तिम व्यंजन के बाद अतिलघु अ जोड़ा जाता है।

2.4 वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

भारतीय आर्यभाषाओं को काल की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है-

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ - 2500 ई. पू. से 500 ई. पू. तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ - 500 ई. पू. से 1000 ई. तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ - 1000 ई. से वर्तमान समय तक।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है। सामान्यतया इनका काल 1500 ई. पू. से 500 ई. पू. तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय 2500 ई. पू. से बाद का नहीं मानते हैं, अतः काल-विभाजन में प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का प्रारम्भ 2500 ई. पू. से माना जाता है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं को विकासक्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त किया जाता है- (1) वैदिक संस्कृत एवं (2) लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस', 'छान्दस' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद के 2 से 6 मंडलों को अधिक प्राचीन तथा 1 और 10 मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना है। वैदिककाल की समाप्ति 500 ई. पू. में मानी गई है।

ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे 'छन्दस' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी है, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है।

वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्यरूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है। इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको 'प्राचाम् (पूर्वी), उदीचाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों से विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों का विकास हुआ और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।

2.4.0 वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ

स्वरूप	स्थान	ध्वनियाँ	योग
1. मूलस्वर	-	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ. ल	9
2. संयुक्त स्वर	-	ए, ओ, ऐ, औ	4
3. स्पर्श	कवर्ग (कण्ठ्य)	क, ख, ग, घ, ङ	27
	चवर्ग (तालव्य)	च, छ, ज, झ, ञ	
	टवर्ग (मूर्धन्य)	ट, ठ, ड, ढ, ढ्ह, ण	
	तवर्ग (दन्त्य)	त, थ, द, ध, न	
	पवर्ग (ओष्ठ्य)	प, फ, ब, भ, म	
4. अन्तस्थ	-	य, र, ल, व	04
5. ऊष्म	संचर्षी	श, ष, स, ह, विसर्ग(:) जिह्वामूलीय, उपध्मानीय	07
6. अनुनासिक	-	अनुस्वार (ँ)	01
			52

प्रो. एलेन (W. S. Allen) ने इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है -

स्वरयंत्र कंठ्य तालव्य मूर्धन्य दन्त्य ओष्ठ्य

व्यंजन	मुखी
स्पर्श अघोष अल्पप्राण	- क च ट त प
स्पर्श अघोष महाप्राण	- ख छ ठ थ फ
स्पर्श घोष अल्पप्राण	- ग ज ड,ळ द ब
स्पर्श घोष महाप्राण	- घ झ ढ,ळ्ह ध भ
अनुनासिक -	- ङ ञ ण न म
अन्तस्थ -	- य र ल व
ऊष्म अघोष	: जिह्वामूलीय श स ष उपध्मानीय
संघर्षी घोष	ह - - - - -
स्वर ह्रस्व	अ - इ ऋ लृ उ
दीर्घ	आ - ई ए ऋ - ऊ ओ
संयुक्त	- - ऐ - - औ

विशेष- एलेन ने वैदिक ऌ और ॡ, अनुस्वार और ओ को छोड़ दिया है।

उपर्युक्त चार्ट में ऊ के साथ ओ बताया गया है। व्यंजनों में ऌ औ ॡह को बताया है। अनुस्वार शुद्ध नासिक्य है। इसका उच्चारण नाक से होता है। चार्ट में 52 ध्वनियों का उल्लेख है।

मूल भारोपीय और वैदिक ध्वनियों में अन्तर

मूल भारोपीय ध्वनियों और वैदिक संस्कृत की ध्वनियों में कुछ अन्तर हो गए हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. मूल भारोपीय के ह्रस्व मूल स्वर अ, एँ, ओ वैदिक संस्कृत में 'अ' हो गए हैं।

2. मूल भारोपीय के तीनों मूल दीर्घ स्वर आ, ए, ओ वैदिक संस्कृत में 'आ' हो गए हैं।
3. मूल भारोपीय अन्तस्थ न्, म् का वैदिक संस्कृत में लोप हो गया है।
4. मूल भारोपीय में 3 प्रकार का कवर्ग है। वैदिक संस्कृत में केवल एक प्रकार का है।
5. वैदिक संस्कृत में चवर्ग और टवर्ग नवीन ध्वनियाँ हैं।
6. मूल भारोपीय में ऊष्म स् के साथ ही वैदिक संस्कृत में श् और ष् नये आ गये हैं।
7. मूल भारोपीय संयुक्त स्वर ह्रस्व और दीर्घ 36 के स्थान पर केवल चार संयुक्त स्वर-ए, ओ, ऐ, औ शेष रहे।
8. वैदिक संस्कृत में ळ, ऴह ध्वनियाँ ड, ढ के स्थान पर नवीन हैं। इनसे ही हिन्दी में क्रमशः ड़ और ढ़ ध्वनियाँ विकसित हुई हैं।
9. वैदिक संस्कृत में अनुस्वार के स्थान पर ह्रस्व और दीर्घ ग्वुं-ग्वूं मिलते हैं। ये नासिक्य के साथ कण्ठ्य भी हैं। अल्प प्रयुक्त होने से इनकी गणना पृथक् नहीं की जाती है।

2.4.1 वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

1. वैदिक भाषा की पदरचना श्लिष्ट योगात्मक थी।
2. पदरचना में विविधता और अनेकरूपता थी। यह विविधता लौकिक संस्कृत में अत्यन्त कम हो गई। जैसे वैदिक संस्कृत प्र. 2-देवौ, देवा>सं.-देवौ, प्र. 3-देवाः, देवासः > सं. देवाः, तृ. 3-देवैः, देवेभिः > देवैः। लौ० संस्कृत में एक-एक रूप रह गए। अपवाद नियम भी कम हो गए।
3. धातु-रूपों में लेट् लकार का प्रयोग होता था। सं. में नहीं रहा।
4. धातुरूपों में अग्रलिखित विशेषताएँ भी थीं- (1) विकरण-व्यत्यय, शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण का विकरण हो जाता था, (2) पद-व्यत्यय, परस्मै. आत्मने. में परिवर्तन, (3) लङ् आदि में अट् (अ) का अभाव, (4) मः > मसि, (5) द्वित्व का अभाव, ददाति के स्थान पर दाति, (6) अन्तिम स्वर को दीर्घ, चक्र > चना, विद्य > विद्या।

5. कृत् प्रत्ययों में तुम् के अर्थ में से, असे, अथ्यै आदि 15 प्रत्यय थे। संस्कृत में 'तुम् ही शेष रहा है।
6. वेद में संगीतात्मक स्वर (Accent) की मुख्यता थी। सं. में बलाघातात्मक स्वर हो गया।
7. वेद में उपसर्ग धातु से पृथक् भी प्रयुक्त होते थे, संस्कृत में नहीं। जैसे- अभिगृणीहि को अभि गृणीहि। अभि यज्ञं गृणीहि नः। (ऋग्वे. 1-15-3)।
8. वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत के तुल्य तीन लिंग और तीन वचन थे, पर लिंग और वचन में परिवर्तन भी हो जाता था। मधुनः को मधोः, मित्राः को मित्रः आदि।
9. वैदिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ के साथ प्लुत का भी प्रयोग प्रचलित था। रायो३ वनिः। वर्ष्या३ अह। आध्यो३ वृको।
10. दो स्वरों के मध्य में ड>ळ और ढ>ळ्ह हो जाता था। ईडे > ईळे, मीढुषे > मीळहुषे। संस्कृत में ये दोनों ध्वनियाँ नहीं हैं, हिन्दी में ळ, ळ्ह के विकसित रूप ड, ढ हैं।
11. वैदिक संस्कृत में 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचलित था।
12. सन्धि-नियमों में पर्याप्त शिथिलता थी। प्रगृह वाले स्थल पर भी संधि मिलती है, रोदसी+ इमे > रोदसीमे। पूर्वरूप आदि संधियों का अभाव भी मिलता है। उपप्रयन्तो अध्वरम्। नो अव्यात्। शतधारो अयम्।
13. वैदिक संस्कृत में मध्य स्वरागम (Anaptyxis) या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे- पृथ्वी>पृथिवी, स्वर्ण>सुवर्ण, स्वर् सुवर् दर्शत>दरशत। लौकिक संस्कृत में शब्दरूपों, धातुरूपों एवं प्रत्ययों की विविधता कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गए।

2.4.2 लौकिक संस्कृत

लौकिक संस्कृत को प्रायः 'संस्कृत' ही कहा जाता है। संस्कृत का सबसे प्राचीन एवं आदि काव्य वाल्मीकिकृत रामायण 500 ई. पू. का है। महाभारत, पुराण, काव्य,

नाटक आदि ग्रन्थ 500 ई. पू. से आज तक अविच्छिन्न रूप से अपना गौरव स्थापित किए हुए हैं। यास्क, कात्यायन, पतंजलि आदि के लेखों से सिद्ध है कि ईसा पूर्व तक संस्कृत लोक-व्यवहार की भाषा थी।

संस्कृत साहित्य आर्य-जाति का प्राण है। संस्कृत में ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं। संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्व-भाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं को भी प्रभावित किया है।

2.4.3 संस्कृत भाषा की ध्वनियाँ

पूर्व में संस्कृत ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। संस्कृत ध्वनियों के विषय में विशेष उल्लेखनीय बातें इसप्रकार हैं-

1. वैदिक संस्कृत में 52 ध्वनियाँ थीं। संस्कृत में 48 ध्वनियाँ रह गई हैं। संस्कृत में वैदिक संस्कृत की 4 ध्वनियाँ प्रायः लुप्त हो गई हैं। ये हैं- ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान पर विसर्ग (:) का ही प्रयोग होता है।
2. वैदिक दृस्व और दीर्घ ग्वं ध्वनि संस्कृत में नहीं रही।
3. भाषाशास्त्रियों ने नासिक्य 5 ध्वनियों में से केवल तीनण, न. म् को नासिक्य स्वनिम (छेंस चैवदमउम) माना है, और ङ् ' को न् का स्वनांग (।ससवचीवदम)। संस्कृत में प्राङ्, दध्यङ् आदि रूप हैं, अतः ङ को स्वनिम मानना आवश्यक है।
4. संस्कृत में लू स्वर का प्रयोग केवल क्लृप् धातु में ही मिलता है।
5. भाषाशास्त्रों ऋ, ॠ, लृ को स्वतन्त्र स्वर नहीं मानते, अपितु इनको 'और ल का स्वनन्त (आक्षरिक) रूप मानते हैं।
6. उच्चारण की दृष्टि से ए, ओ, ऐ, औ का उच्चारण संयुक्त स्वरों के तुल्य न होकर मूल-स्वर के तुल्य होने लगा।
7. वैदिक संस्कृत में अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि था। संस्कृत में इसके दो रूप हो गए हैं- अनुस्वार, अनुनासिक। अनुस्वार () की स्वतंत्र सत्ता है। यह नासिक्य

ध्वनि है। अनुनासिक (') अस्वतन्त्र है। पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर इसका अनुनासिक उच्चारण होता है।

2.4.4 संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनि-व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दरूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद नियमों की संख्या कम हो गई। लौकिक संस्कृत की कुछ विशेषताएँ इसप्रकार हैं-

1. शब्दरूपों और धातुरूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।
2. सन्धि-नियमों की अनिवार्यता हो गई।
3. लेट् लकार का अभाव हो गया।
4. भाषा में उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।
5. कृत् प्रत्ययों आदि में अनेक प्रत्ययों के स्थान पर एक प्रत्यय होने लगे। तुमर्थक 15 प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'तुम् प्रत्यय है।
6. शब्दकोश में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन ईम्, सीम् जैसे निपात लुप्त हो गए। वेदों में अत्यन्त प्रचलित अवस्यु, विचर्षणि, वीति, ऋक्वन्, उक्थ्य जैसे शब्द समाप्त हो गए। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं- दर्शति (दर्शनीय), दृशीक (सुन्दर), मूर (मूड़), अमूर (विद्वान्), अक्तु (रात्रि), अमीवा (रोग), रपस् (चोट), ऋदूदर (कृपालु)।
7. वैदिक शब्दों के अर्थ में भी संस्कृत में अन्तर हो गया है। जैसे- पत् (वैदिक-उड़ना, संस्कृत-गिरना), सह (वैदिक-जीतना, संस्कृत-सहना), न (वैदिक-नहीं, तुल्य, संस्कृत-नहीं), असुर (वैदिक-शक्तिशाली, संस्कृत-दैत्य), अराति (वैदिक-कृपण, संस्कृत-शत्रु), वध (वैदिक-घातक शस्त्र, संस्कृत-हत्या), क्षिति (वैदिक-गृह, संस्कृत-पृथ्वी)।
8. स्वरों में लृ का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। व्यंजनों में ळ्, ळ्ह नहीं रहे।
9. जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग बंद हो गया।

10. संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वर का प्रयोग होने लगा।
11. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

2.4.5 वैदिक और लौकिक संस्कृत की समानताएँ एवं विषमताएँ

(क) समानताएँ-

1. दोनों श्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. दोनों में प्रायः सभी शब्द धातुज हैं। रूढ़ शब्दों की संख्या कम है।
3. पद-निर्माण की विधि प्रायः एक ही है। सुप् तिङ्, कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय समान हैं।
4. धातुओं का गणों में विभाजन, णिच्, सन् आदि प्रत्यय समान हैं।
5. समास-विधि दोनों में है।
6. धातुओं और शब्दों के अर्थ प्रायः एक ही हैं।
7. दोनों में 3 लिंग, 3 वचन, 3 पुरुष हैं।
8. वाक्य-रचना शब्दों से नहीं, अपितु पदों से ही होती है।
9. दोनों के वाक्य में पद-क्रम (शब्दों का स्थान) निश्चित नहीं है।
10. दोनों में संधि-कार्य होते हैं। दोनों में कारक एवं विभक्तियाँ हैं।

(ख) विषमताएँ -

वैदिक संस्कृत

लौकिक संस्कृत

- | | |
|---|--------------------------------|
| 1. ध्वनियों में ऌ, ॡह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय है। | 1. ये ध्वनियाँ नहीं रहीं। |
| 2. लृ स्वर का प्रयोग था। | 2. लृ स्वर लुप्तप्राय है। |
| 3. उदात्त आदि स्वरों का प्रयोग था। | 3. इनका प्रयोग नहीं रहा। |
| 4. स्वर-प्रयोग संगीतात्मक था। | 4. स्वर-प्रयोग बलाघातात्मक है। |
| 5. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत स्वर थे। | 5. प्लुत प्रायः लुप्त हो गया। |
| 6. शब्दरूपों में बहुत विविधता थी। | 6. विविधता बहुत कम हो गई। |

- | | |
|--|---|
| 7. धातुरूपों में बहुत विविधता थी। | 7. विविधता प्रायः समाप्त हो गई। |
| 8. लकारों में लेट् लकार था। | 8. यह संस्कृत में नहीं रहा। |
| 9. परस्मै. आत्मनेपदी में परिवर्तन होता था। | 9. पद-परिवर्तन निर्धारित नियमानुसार ही होता है। |
| 10. पुरुष, वचन, विकरण, लकार आदि में परिवर्तन होता था। | 10. ये परिवर्तन निषिद्ध हो गए। |
| 11. लङ्, लुङ् आदि में अट् का आगम अनिवार्य नहीं था। | 11. अट् का आगम इन लकारों में आवश्यक है। |
| 12. तुम्, क्त्वा आदि अर्थों में अनेक प्रत्यय हैं। | 12. तुम्, क्त्वा, ल्यप्, णमुल् आदि थोड़े प्रत्यय शेष रहे। |
| 13. संधि-नियम ऐच्छिक थे। | 13. संधि-नियम आवश्यक हैं। |
| 14. उपसर्ग स्वतन्त्र भी थे। | 14. उपसर्ग स्वतंत्र नहीं रहे। |
| 15. ईम्, सीम्, वै आदि निपात थे। | 15. ये निपात नहीं रहे। |
| 16. अक्तु, अर्जुनी, श्वेत्या, गातु, ग्मा, ज्या आदि शब्द थे। | 16. ये वैदिक शब्द लुप्त हो गए। |
| 17. अच्, अम्, क्षद्, जिन्व्, ध्रज् आदि धातुएँ भी थीं। | 17. ये धातुएँ अप्रयुक्त हो गईं। |
| 18. पत्, सह् आदि धातुओं तथा न, असुर, अराति आदि शब्दों का अर्थ संस्कृत से भिन्न है। | 18. इनके अर्थों में अन्तर हुआ। (इनके अर्थ पीछे दिए हैं।) |
| 19. 'तर्', 'तम्' प्रत्यय संज्ञाशब्दों से भी होते थे। वृत्रतरः आदि। | 19. 'तर्', 'तम्' प्रत्यय विशेषण शब्दों से ही होते हैं। |

20. छन्दःपूर्ति के लिए स्वरभक्ति का प्रयोग 20. स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।
होता था। स्वर>सुवर, पृथ्वी>पृथिवी,
इन्द्र>इन्दर, दर्शति>दरशत।

2.5 आर्य या भारत-ईरानी शाखा

आर्य-परिवार

नामकरण- भारोपीय परिवार की भाषाओं की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि यह परिवार प्रारम्भ से ही दो भागों में विभक्त होता है- केन्टुम् और शतम् (सतम्) वर्ग। केन्टुम् वर्ग में अधिकांश यूरोपीय भाषाएँ आती हैं और शतम् या सतम् वर्ग में मुख्य रूप से संस्कृत और अवेस्ता भाषाएँ। संस्कृत और अवेस्ता में इतनी अधिक समानता है कि इनको एक पृथक् शाखा माना गया है। इसको भारत-ईरानी या हिन्द-ईरानी शाखा कहते हैं। ईरान शब्द 'आर्याणाम्' का अपभ्रंश रूप है, जैसे- ब्राह्मणानाम् का 'बंभनान', आभीराणाम् का 'हरियाणा'। भारत और ईरान के कारण इसे 'भारत-ईरानी' और आर्य-परिवार के कारण 'आर्य शाखा' कहा जाता है।

महत्त्व- विश्व-भाषा-परिवारों में भारोपीय भाषा-परिवार का सबसे अधिक महत्त्व है। भारोपीय परिवार में भी 'आर्य-परिवार' या आर्य-शाखा का सर्वाधिक महत्त्व है। इसके प्रमुख कारण हैं-

1. प्राचीनतम साहित्य- विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' अपने शुद्ध एवं प्राचीनतम रूप में संस्कृत में उपलब्ध है। समस्त वैदिक साहित्य इसी शाखा में प्राप्य है। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय 3 हजार ई. पू. से 2 हजार ई. पू. के मध्य मानते हैं। अधिकांश भारतीय विद्वान् वैदिक काल का प्रारम्भ 4 हजार ई. पू. के लगभग मानते हैं। वैदिक साहित्य का समय 4 हजार ई. पू. से 1 हजार ई. पू. के मध्य माना जाता है। इतना प्राचीन साहित्य किसी भाषा में नहीं है।
2. अवेस्ता- पारसियों का धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' (700 ई. पू. के लगभग) इसी शाखा में प्राप्य है। यह वैदिक काल के समकक्ष है।

3. भाषा-विज्ञान का जन्मदाता- यूरोप में संस्कृत और अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन ने ही भाषाविज्ञान को जन्म दिया है। अतः संस्कृत भाषाशास्त्र की जननी है।
4. प्राचीन वर्णमाला एवं ध्वनियाँ- मूल भारोपीय भाषा की प्राचीन ध्वनियों के निर्धारण में संस्कृत और अवेस्ता का असाधारण योगदान है।
5. प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता- विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यता का सर्वांगीण इतिहास संस्कृत और अवेस्ता भाषा के साहित्य से प्राप्त होता है।
6. भाषाशास्त्रीय देन- भाषाशास्त्र को ध्वनि-विज्ञान (शिक्षा), पद विज्ञान (व्याकरण) और अर्थविज्ञान (निरुक्त) का मौलिक आधार संस्कृत से ही प्राप्त होता है।

आर्यशाखा जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मूल भारोपीय भाषा-भाषियों की दो शाखाएँ हुई। एक शाखा भारत और ईरान में पहुँची और दूसरी रूस और यूरोप में। भारत में प्रचलित शाखा को भारतीय या हिन्द शाखा कहा जाता है तथा ईरान में प्रचलित शाखा को ईरानी।

जिस प्रकार भारतीय आर्यभाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है- प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक, उसी प्रकार ईरानी के भी तीन वर्ग मिलते हैं। भारोपीय और ईरानी भाषाओं का विकास प्रायः समानान्तर हुआ है।

वैदिक-संस्कृत और अवेस्ता

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है। इसका भी प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत में मिलता है। ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता है। ईरानियों के धर्मग्रन्थ का नाम 'अवेस्ता' है। इनकी भाषा को भी 'अवेस्ता' ही कहते हैं। 'अवेस्ता' संस्कृत 'अवस्था' का अपभ्रंश रूप है, इसका अर्थ है - 'व्यवस्थित, परिनिष्ठित रूप'। अतः 'अवेस्ता' शब्द 'धर्मग्रन्थ' का वाचक है। जेन्द (Zend) शब्द 'छन्दस्' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है- टीका, व्याख्या। अवेस्ता की टीका को जेन्द कहते हैं। यह पहलवी भाषा में है। टीका-सहित धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' (Zend-Avesta) कहते हैं। भूल से या प्रचलन के आधार पर 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ को 'जेन्दावेस्ता' भी कहते हैं। 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा, शब्दावली, रचना, छन्दोयोजना और भावावलि वैदिक मन्त्रों से बहुत अधिक

मिलती है। संस्कृत और अवेस्ता के ध्वनि-नियमों को जानने वाला कोई भी संस्कृतज्ञ वेद के मन्त्र को अवेस्ता में और अवेस्ता की गाथाओं को वैदिक मन्त्र के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जैसे डॉ. हाउग द्वारा उद्धृत अवेस्ता का यस्न 31, गाथा 8 का संस्कृत रूपान्तर और अर्थ-

अवेस्ता	संस्कृत	अर्थ
Vispa drukhsh janaite	विश्वो दुरक्षो जिन्वति	सभी दुरात्मा भागते हैं।
Vispa drukhsh nashaiti	यदा शृणोति एतां वाचम्	सभी दुरात्मा नष्ट होते हैं।
yatha hanoti aisham Vacham	विश्वो दुरक्षो नश्यति	जब इस बात को सुनते हैं।

2.5.0 केन्टुम् और शतम् (सतम्) वर्ग

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जाता है (क) केन्टुम्, (ख) शतम् (सतम्)। इस विभाजन का श्रेय प्रो. अस्कोली (Ascoly) को है। उन्होंने 1870 ई. में यह मत प्रस्तुत किया कि मूल भारोपीय भाषा की कंठ्य (कंठ-तालव्य) ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में कंठ्य रह गई हैं और कुछ भाषाओं में वे संघर्षी (Sibilant, ऊष्म, श स .ज) हो गई हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए दो प्रतिनिधि भाषाएँ लैटिन और अवेस्ता ली गईं। उदाहरण के लिए 100 संख्यावाचक शब्द लिया गया। लैटिन में सौ को Centum (केन्टुम्) कहते हैं और अवेस्ता में सतम्, संस्कृत में 'शतम्'। सभी भारोपीय भाषाओं को इन दो भागों में विभक्त किया गया। उपर्युक्त 10 परिवारों में प्रथम चार परिवार 'शतम्' वर्ग में आते हैं और शेष छः 'केन्टुम्' वर्ग में। अवेस्ता के 'सतम्' के स्थान पर संस्कृत शब्द 'शतम्' का प्रयोग किया जाना उचित है। 'सौ' के लिए मूल भारोपीय भाषा का शब्द Kmtom (कमतोम्) माना जाता है। इसका विभिन्न भाषाओं में विकास इस प्रकार माना जाता है-

मूल भारोपीय शब्द- Kmtom (कमतोम् = शतम्)

शतम् (सतम्) वर्ग	केन्दुम् वर्ग
संस्कृत-शतम्	लैटिन-केन्दुम् (Centum)
अवेस्ता सतम्	ग्रीक-हेकटोन (Hekaton)
फारसी-सद	केल्टिक (आयरिश)-केत् (Cet)
हिन्दी-सौ	तोखारी-कन्ध (Kandh)
रूसी स्तो (Sto)	गाथिक-हुन्ड (Hund)
लिथुआनियन स्जिम्तास (Szimtas)	जर्मन-हुन्डर्ट (Hundert)
	फ्रेंच-सं (सेंट, Cent)
	इटालियन-केन्तो

प्रारम्भ में यह विचार प्रस्तुत किया गया था कि केन्दुम् वर्ग की भाषाएँ पश्चिम में प्रचलित हैं और शतम् वर्ग की भाषाएँ पूर्व में। प्रो. हर्ट ने विश्चुला नदी के पश्चिम में केन्दुम् वर्ग और पूर्व में शतम् वर्ग माना था। बाद में तोखारी और हिटाइट भाषाओं के मिलने पर यह सिद्धान्त निरस्त हो गया, क्योंकि तोखारी और हिटाइट भाषाएँ पूर्वी क्षेत्र में हैं और इनमें केन्दुम् के तुल्य क् ध्वनि मिलती है, स् ध्वनि नहीं।

2.5.1 भारोपीय परिवार-विभाजन

भारोपीय-परिवार को केन्दुम् और शतम् वर्ग के आधार पर इस प्रकार बाँटा जाता है-

शतम् वर्ग	केन्दुम् वर्ग
1. भारत-ईरानी (आर्य)	5. ग्रीक
2. बाल्टो-स्लाविक	6. केल्टिक
3. आर्मीनी	7. जर्मनिक (ट्यूटानिक)
4. अल्बानी (इलीरी)	8. इटालिक
	9. हिटाइट
	10. तोखारी

इसको संक्षेप में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है-

ईरानी-भारती चैव, बाल्टी सुस्लाविकी तथा ।

आर्मीनी अल्बनी चौताः, शतम्-वर्गे समाश्रिताः ।।।।।

इटालिकी च ग्रीकी च, जर्मनिक् केल्टिकी तथा ।

हिन्दी तोखारिकी चैताः, केन्टुम्-वर्गे प्रकीर्तिताः ।।2।।

2.6 भाषा और वाक्

भाषा शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से अपने व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें उच्चारण, ग्रहण और बोध सभी का समावेश रहता है। बोलने वाला भी भाषा बोलता है। सुनने वाला भी भाषा सुनता है और बोध भी भाषा रूप में होता है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर भाषा के दो रूप प्रकट होते हैं (1) स्थायी एवं सूक्ष्म रूप, (2) अस्थायी एवं स्थूल रूप। स्थायी एवं सूक्ष्म रूप को 'भाषा' (Language) और अस्थायी एवं स्थूल रूप को 'वाक्' (Speech) कहेंगे। इस 'वाक्' को भाषण भी कह सकते हैं। 'भाषा और वाक्' का अन्तर 'भाषा और भाषण' के अन्तर से भी समझा जा सकता है।

(क) भाषा और वाक्- भाषा सूक्ष्म एवं भावात्मक वस्तु है, वाक् स्थूल और भौतिक वस्तु है। भाषा स्थायी है, वाक् अस्थायी है। जो कुछ हम बोलते और सुनते हैं, वह वाक् है। श्रवण के द्वारा जो हमें ज्ञान होता है, वह भाषा है। वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित और श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत भाषा का रूप 'वाक्' की कोटि में आता है। भाषा के आदान और प्रदान बोलने और सुनने की गणना वाक् में होती है। इसके द्वारा जो बोध या ज्ञान होता है, वह भाषा का वास्तविक रूप है। भाषा कूटस्थ है, भावात्मक है, सूक्ष्म है और अनिर्वचनीय है। 'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है। यह स्थूल एवं नश्वर है। इसका निर्वचन या विश्लेषण हो सकता है। इसी आधार पर ध्वनि-विज्ञान अंग की सत्ता है। वाक्यपदीय के शब्दों में भाषा को 'स्फोट' और वाक् को 'नाद' कह सकते हैं। भाषा साध्य है, वाक् साधन। हम शब्दों या वाक्यों को सुनकर, जो कुछ सीखते हैं, वह भाषा है। भाषा को सीखकर जो हम बोलते हैं, वह वाक् है। इस प्रकार भाषा के बोधपक्ष को 'भाषा' कहते हैं और उच्चारण एवं

श्रवण-पक्ष को वाक्। ज्ञान, भाषा है और उसका प्रकाशन वाक्। भाषा अनुभूति, भाव और विचार के रूप में स्थायी है और वाक् उच्चारण के साथ नष्ट होती रहती है। एक वाक्य को बीस बार बोलने पर 'वाक्' की 20 इकाइयाँ होंगी, परन्तु भाषा की वह एक इकाई मानी जायगी। 'भाषा' ज्ञान की समष्टि है और 'वाक्' उसकी अभिव्यक्ति। वाक्य और व्याकरण 'भाषा' के अंग हैं, परन्तु उच्चारण और ग्रहण 'वाक्' के अवयव हैं।

(ख) **भाषाविषयक क्षमता एवं संपादन** (Linguistic Competence and Linguistic Performance)- भाषा के अध्ययन और प्रयोग से दो प्रकार की दक्षता प्राप्त होती है। एक वह, जिसके द्वारा भाषा-विषयक ज्ञानवृद्धि होती है, भाषा के नियमों को आत्मसात् किया जाता है और यथासमय अर्थ का निर्धारण करते हुए, उन्हें स्वनिम का रूप दिया जाता है। इसको 'भाषा-विषयक क्षमता' कहा जाता है। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ यह क्षमता बढ़ती जाती है। इस क्षमता की वृद्धि के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गंभीर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। दूसरी ओर वाक् पटुत्व है। एक व्यक्ति ज्ञात और अज्ञात अनेक भाषाओं के वाक्यों का साधुत्व के साथ उच्चारण कर सकता है, उन्हें सुन और समझ सकता है, इसको 'भाषाविषयक संपादन' कहा जाता है। भाषा-विषयक क्षमता बाल्यकाल से ही उस भाषा के व्याकरण के ज्ञान से होती है। यह क्रमशः बढ़ती जाती है। शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण के द्वारा संपादन की योग्यता बढ़ती जाती है।

(ग) **क्षमता और संपादन के दो अंग-** भाषा-विषयक क्षमता के निर्धारण के दो अंग हैं- (1) जन्म सिद्ध अंश, (2) अर्जित अंश। जन्म-सिद्ध अंश को भाषा-विषयक सार्वभौम (Linguistic Universal) कहते हैं। ये तत्त्व विश्व की सभी भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं। ये अंश मनुष्य में जन्म से ही आते हैं। अर्जित अंश ज्ञानोपार्जन के साधन, व्याकरण, साहित्य एवं शब्दकोश आदि से आते हैं। इसी प्रकार सम्पादन के भी दो अंग हैं- (1) वक्ता, (2) श्रोता। वक्ता भाव संप्रेषण का कार्य करता है। वह किन परिस्थितियों में और किन प्रसंगों में अपने भावों को व्यक्तवाक् का रूप देता है, तदनुकूल उसका प्रभाव होगा। दूसरी ओर श्रोता किन परिस्थितियों में और किन प्रसंगों में उसे सुनता है, तदनुसार वह उसका अर्थ समझता है। इस विषय में वक्ता

के वाग् यन्त्र और श्रोता के श्रवण यन्त्र का भी विशेष महत्व है। वक्ता के वाग्-यन्त्र की विशेषता के आधार पर ही यह पता लग जाता है कि वक्ता बालक है या युवा या वृद्ध, पुरुष है या स्त्री है या अन्य। वाग्यन्त्र में कोई दोष-हकलाना, कण्ठावरोध आदि होगा तो संपादन दोषयुक्त या अपूर्ण होगा। इसी प्रकार श्रवण यन्त्र में कोई दोष बधिरत्व, अशक्तता आदि होगा तो संपादन का ग्रहणपक्ष सदोष एवं अपूर्ण होगा।

संपादन के कार्य में स्मरण शक्ति का भी विशेष महत्व है। वक्ता और श्रोता की जैसी स्मरण शक्ति होगी, तदनुकूल ही संपादन का प्रेषण और ग्रहणपक्ष प्रभावित होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित तत्त्व भी संपादन को प्रभावित करते हैं ध्यान की एकाग्रता का होना या न होना, विषय के प्रति रुचि या अरुचि, क्रोध, क्षोभ या उत्तेजना की स्थिति आदि।

(घ) क्षमता और संपादन परस्पर सापेक्ष हैं- भाषा विषयक क्षमता के लिए सामग्री की आवश्यकता है और वह सामग्री संपादन के द्वारा प्राप्त होती है। जितनी बातें सुनी या सोखी जायेंगी, उतनी ही क्षमता बढ़ेगी। इस प्रकार क्षमता का आधार संपादन है। दूसरी ओर संपादन का आधार क्षमता है। जो ज्ञान उपार्जित होगा, वही वाग्यन्त्र के द्वारा प्रकट किया जायेगा। इस प्रकार भाषा और वाक् की सापेक्ष स्थिति है। बोलने के लिए वाग्यन्त्र है और ग्रहण के लिए श्रवण यन्त्र। इन दोनों यन्त्रों के ठीक उपयोग के लिए प्रयोक्ता की तद्विषयक क्षमता अनिवार्य है। अतएव क्षमता का अध्ययन पहले किया जाता है। उसका ठीक ज्ञान होने पर संपादन भी समुचित रूप से होता है। इसमें प्रेषण, ग्रहण और संचार प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है।

(ङ) संपादन की आवृत्ति नहीं होती- जो वाक्य एक बार बोला जा चुका है, वही दुबारा नहीं बोला जाता है। प्रत्येक बार वह वाक्य नया होता है। यदि एक वाक्य 100 बार बोला गया है तो वह संपादन के लिए 100 है, किन्तु क्षमता के लिए एक ही माना जायेगा। इस प्रकार संपादन अनन्त होता है। संपादन की इस अनन्तता को सामान्यीकरण के द्वारा सीमित कर दिया जाता है। इससे संपादन में व्यवस्था आती है। यह व्यवस्था क्षमता से निरन्तर संबद्ध रहती है।

(च) भाषा की अनन्तता- यदि एक दृष्टि से संपादन अनन्त है तो दूसरी दृष्टि से भाषा अनन्त है और संपादन शान्त। भाषा निरन्तर प्रवहमान है। उसका कहीं अन्त

नहीं है, अतः वह अनन्त है। मानव-शरीर नश्वर है, शान्त है, अतः उसका संपादन भी शान्त होगा। भाषा सूक्ष्म है, अतः कालयुग के किसी एक बिन्दु पर भाषा को नहीं पकड़ा जा सकता है, इसके विपरीत उसी स्थिति में संपादन को पकड़ा जा सकता है, जब उसका चित्र लिया जाये और साक्षात् उसे प्रस्तुत किया जाये। टेप रिकार्डिंग आदि के द्वारा यथार्थ रूप में उसे पकड़ कर सामने भी लाया जा सकता है।

2.6.0 बोली, विभाषा और भाषा

ऊपर भाषा के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया गया है। संसार की समस्त भाषाओं को विभिन्न कोटियों में बाँटा जाता है। इस वर्गीकरण का आधार आकृतिमूलक आदि वर्गीकरणों के अतिरिक्त बोली, विभाषा और भाषा तीन रूपों में किया जाता है, उसका ही संक्षिप्त रूप यहाँ दिया जा रहा है-

1. बोली (Sub-dialect)- बोली, भाषा की छोटी इकाई है। इसका सम्बन्ध ग्राम या मण्डल से रहता है। इसमें व्यक्तिगत बोली की प्रधानता रहती है। इस पर घरेलू शब्द और देशज शब्दों का भी पर्याप्त प्रभाव रहता है। यह मुख्य रूप से बोल-चाल की भाषा होती है। इसमें साहित्यिक रचना आदि का अभाव रहता है। एक विभाषा में स्थानीय भेदों के आधार पर कई बोलियाँ प्रचलित रहती हैं। इसके लिए फ्रांसीसी शब्द पात्वा (Patois) प्रचलित है। यद्यपि पात्वा की सभी विशेषताएँ बोली में प्राप्य नहीं हैं, तथापि बोली के लिए इसका प्रचलन है। भाषाशास्त्रियों ने पात्वा की चार विशेषताएँ मानी हैं। (क) यह डाएलेक्ट का छोटा और स्थानीय रूप है। (ख) यह साहित्यिक भाषा नहीं होती है। (ग) यह व्याकरण की दृष्टि से असाधु भाषा होती है। (घ) इसके प्रयोक्ता अशिक्षित या निम्न स्तर के व्यक्ति होते हैं। पात्वा की अधिकांश विशेषताएँ बोली में प्राप्त होती हैं, अतः बोली को सामान्य रूप से पात्वा कहा जा सकता है। जैसे- ब्रज, अवधी और भोजपुरी के स्थानीय आधार पर अनेक रूप देखे जाते हैं। भोजपुरी के गाजीपुर, बलिया, शाहाबाद आदि जिलों में थोड़े परिवर्तन से जिला स्तर पर विभिन्न रूप मिलते हैं।

2. विभाषा (Dialect)- विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है। यह एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। इसमें साहित्यिक रचनाएँ भी प्राप्त होती

है। जैसे- हिन्दी की विभाषाएँ प्रचलित हैं- खड़ी बोली, ब्रज भाषा, अवधी, भोजपुरी आदि। विभिन्न बोलियाँ राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि आधार पर अपना क्षेत्र बढ़ा सकती हैं और साहित्य रचना आदि के आधार पर वे अपना स्थान बोली से उच्च करते हुए विभाषा स्तर पर प्रचलित होने पर ही राजनीतिक, सांस्कृतिक या साहित्यिक गौरव के कारण भाषा का स्थान प्राप्त कर लेती हैं। जैसे खड़ी बोली मेरठ, बिजनौर आदि की विभाषा होते हुए राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत होने के कारण राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित हुई। इसी प्रकार प्रचलन के आधार पर विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं ने अपने-अपने प्रान्तों में गौरव का स्थान प्राप्त किया है।

बोली और विभाषा निम्नलिखित कारणों से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती हैं-

(क) जब कोई बोली या विभाषा अपनी सहयोगिनी बोलियों से पृथक् होती है या अकेली शेष रह जाती है तो उसका स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है।

(ख) साहित्यिक श्रेष्ठता के आधार या साहित्य रचना के आधार पर भाषा का स्थान उच्च हो जाता है। सूर-काव्य के कारण ब्रज भाषा का और तुलसी के काव्य-ग्रन्थों से अवधी का महत्व बढ़ा। साहित्यिक अभिवृद्धि के कारण ही खड़ी बोली राष्ट्र-भाषा पद पर अधिष्ठित हुई।

(ग) सांस्कृतिक या धार्मिक श्रेष्ठता के आधार पर मथुरा, राम-भक्ति के आधार पर अयोध्या का महत्व बढ़ा। इस प्रकार ब्रज और अवधी को धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर बल मिला। आर्यसमाज ने खड़ी बोली को अपने सांस्कृतिक प्रचार का आधार बनाया, अतः उसके प्रचार क्षेत्र में खड़ी बोली का गौरव बढ़ा।

(घ) प्रयोक्ताओं का महत्वपूर्ण होना भाषा को महत्ता प्रदान करता है। अंग्रेज और अमरीकी अपनी व्यापारिक उन्नति आदि के द्वारा विश्व में फैले हुए हैं, अतः अंग्रेजी भाषा को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार रूसी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं की अभिवृद्धि में इनके प्रयोक्ताओं का महत्वपूर्ण योगदान है।

(ङ) राजाश्रय प्राप्त होने से कोई भी विभाषा भाषा बन जाती है। राजाश्रय के आधार पर अंग्रेजी राजभाषा के पद पर अधिष्ठित हुई। इसी प्रकार मुगलकाल में उर्दू और फारसी को राजभाषा घोषित किया गया था। राजनीतिक आधार पर ही खड़ी

बोली को राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त हो सका है, क्योंकि वह केन्द्रस्थल दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों की बोली थी।

3. भाषा, परिनिष्ठित या आदर्श भाषा (Standard Language) इसको राष्ट्रभाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। विभिन्न विभाषाओं में से कोई एक विभाषा अपने गुण-गौरव, साहित्यिक अभिवृद्धि, जन-सामान्य में अधिक प्रचलन या राजाश्रय आदि के आधार पर राजकार्य के लिए चुन ली जाती है और उसको राष्ट्रभाषा या राजभाषा घोषित किया जाता है।

संक्षेप में बोली, विभाषा और भाषा का अन्तर यह कहा जा सकता है कि बोली स्थानीय भाषा है, इसका क्षेत्र जिला या कमिशनरी तक सीमित होता है। विभाषा का क्षेत्र इससे बड़ा होता है। वह प्रान्तीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। राजभाषा या राष्ट्रभाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग उचित है।

बोली, विभाषा और भाषा का मौलिक अन्तर बताना संभव नहीं है। ये भेद मुख्यतया व्यवहार-क्षेत्र के विस्तार और अविस्तार पर निर्भर हैं। बोली और भाषा में निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है-

(क) भाषा का क्षेत्र बड़ा होता है, बोली का क्षेत्र छोटा। (ख) भाषा में प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है, बोली में नहीं या अत्यल्प। (ग) बोली भाषा से जन्य है, अतः भाषा और बोली का माता-पुत्री का सम्बन्ध है। (घ) भाषा शिक्षा और उच्चशिक्षा का माध्यम होती है, बोली लोक साहित्य, लोक गीत एवं बोल-चाल तक सीमित रहती है। (ङ) एक भाषा-जन्य बोलियों में बोधगम्यता रहती है। ये बोलियाँ कुछ अन्तर से भिन्न होने पर भी परस्पर बोधगम्य होती हैं। (च) एक भाषा की अनेक बोलियाँ हो सकती हैं, पर उनकी आधार भाषा एक ही होगी।

भाषण-विधियों के भेद से भाषा-भेद

प्रोफेसर ब्लूमफील्ड ने भाषण-विधियों के भेद से भाषा के 5 भेद किए हैं-

1. **साहित्यिक मानक-** यह अधिकांशतः औपचारिक वार्तालापों और लेखादि में मिलता है। यह साहित्यिक स्तरीय भाषा होती है।
2. **बोल-चाल का मानक-** यह विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग की बोली है।

3. **प्रान्तीय मानक**– यह प्रान्तीय स्तर की भाषा है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त की भाषा में कुछ भिन्नता रहती है।
4. **उप-मानक**– यह स्थानीय भेद से भिन्न होती है। इसमें स्थानीय अन्तर बहुत साधारण होता है। यह प्रान्तीय से कम विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली स्तरीय भाषा है।
5. **स्थानीय बोली**– यह न्यूनतम सुविधा प्राप्त वर्ग की बोली है। यह स्थान-विशेष में ही बोली जाती है।

प्रोफेसर जॉन एस. केनियन (John S. Kenyon) ने भाषण-विधि को 4 भागों में बाँटा है-

1. **औपचारिक मानक** (Formal Standard) – यह परिष्कृत लेखन, भाषण एवं विशिष्ट परिस्थितियों में ही प्रयुक्त होती है।
2. **अनौपचारिक मानक** (Informal Standard)- उच्चवर्गीय व्यक्तियों के द्वारा दैनंदिन व्यवहार में प्रयुक्त होती है।
3. **अनौपचारिक अमानक** (Informal non-standard)- यह ब्लूम-फील्ड के उपमानक के समकक्ष है।
4. **औपचारिक अमानक** (Formal non-standard)- जब निम्नवर्गीय व्यक्ति उच्चवर्गीय भाषा का व्यवहार करना चाहते हैं तो वे नये अप्रचलित शब्दों या मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। यह निम्नवर्गीय व्यक्तियों की कृत्रिमतायुक्त स्तरीय बोली है।

भाषा की विशेषताएँ

मानवीय भाषा में कतिपय विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जो मानवेतर जीवों- पशु, पक्षी आदि की भाषा में प्राप्त नहीं होती हैं। प्रोफेसर हाल (Robert A. Hall Jr.) ने भाषा के सम्बन्ध में मानव और मानवेतर जीवों की तुलना करते हुए प्रो. हॉकेट (Hockett) का मत उद्धृत किया है कि मानवीय भाषा में निम्नलिखित 7 विशेषताएँ हैं, जो मानवेतर जीवों में अप्राप्य हैं-

(क) द्वैतता (Duality)- प्रत्येक भाषा में दो तत्त्व अवश्य होते हैं- (1) सार्थक ध्वनि-अंश (स्वनिम, Phoneme), (2) सार्थक रूप अंश (रूपिम, Morpheme)।

(ख) उत्पादन क्षमता (Productivity)- मानवीय भाषा में यह सामर्थ्य है कि वह संघटनात्मक ऐसे वाक्यों की भी रचना कर सकती है, जिसे वक्ता और श्रोता ने उससे पूर्व कभी न कहा हो, न सुना हो। पर दोनों ही पक्ष उसे सरलता से समझ सकते हैं।

(ग) यादृच्छिकता (Arbitrariness) भाषा के किसी अवयव (संज्ञा, क्रिया आदि) और अर्थ में कोई जन्मसिद्ध निश्चित सम्बन्ध नहीं है। सभी शब्दों के अर्थ यादृच्छिक (स्वेच्छा से रखे गये) हैं। वे प्रत्येक भाषा में संकेत-जन्य हैं।

(घ) प्रेषण और ग्रहण में परस्पर परिवर्तनीयता (Interchangability)- मानवीय भाषा में प्रेषण और ग्रहण में परस्पर परिवर्तनीयता की क्षमता है। भाषा का उपयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति व्यक्त वाक् के द्वारा अपने भाव या सन्देश को दूसरे तक पहुँचा सकता है और साथ ही दूसरे के द्वारा कहे गये वक्तव्य को सुन और समझ सकता है। कहना और सुनने के द्वारा आदान-प्रदान की प्रक्रिया में परिवर्तन-क्षमता रहती है।

(ङ) भाषा में विशेषीकरण (Specialization) - प्रत्येक मानवीय भाषा की अपनी एक विशेष पद्धति है, जिसके द्वारा अपने ढाँचे और अर्थ में सीमित रहते हुए वह भाव संप्रेषण का कार्य सरलता से करती है। अपने बोध्य अर्थ या क्रिया से इसका साक्षात् भौतिक सम्बन्ध नहीं के बराबर होता है।

(च) भाव-अभाव, मूर्त-अमूर्त का द्योतन (Displacement) मानवीय भाषा भाव और अभाव एवं मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती है। भाषा विद्यमान वस्तुओं के अतिरिक्त अविद्यमान वस्तु का भी बोध कराती है। जैसे- 'घटाभाववद् भूतलम्' अर्थात् यहाँ पृथ्वी पर घड़ा नहीं है। अतीत का प्रकाशन- राम ने रावण का वध किया। राम इस समय विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार अमूर्त न्याय, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, परमात्मा, ब्रह्म आदि का बोध कराया जाता है। आकाश-कुसुम, व्योमपुरी, वन्ध्या-पुत्र आदि सर्वथा अभावात्मक का भी द्योतन भाषा द्वारा किया जाता है।

(छ) सांस्कृतिक परम्परागतता (Cultural Transmission) मानवीय भाषा पैतृक परम्परा से नहीं, अपितु शिक्षा के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संक्रमित होती है। बाल्यकाल में हम अपने से बड़ों का तथा अपने समकालीन व्यक्तियों का अनुकरण करके भाषा सीखते हैं। इस प्रकार तथा अन्य साधनों से जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, उसे हम अपनी अगली पीढ़ी को दे देते हैं। यह भाषा का ही महत्त्व है कि मानवीय ज्ञान संगृहीत होता रहता है और भावी पीढ़ी को नये ढंग में शून्य से ज्ञान वृद्धि करते हुए नया वाङ्मय नहीं तैयार करना पड़ता, अपितु पूर्वजों के ज्ञान का लाभ उठाते हुए शीघ्र ज्ञान-वृद्धि का अवसर मिलता है।

2.7 अभ्यास प्रश्न :

1. भारोपीय भाषा परिवार का परिचय लिखिये।
2. वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में समानताएं एवं विषमताओं का उल्लेख कीजिए।
3. भारत इरानी भाषा परिवार की दो भाषाओं का परिचय अपने शब्दों में दीजिये।
4. शतम् एवं केन्टुम समूह के विषय पर टिप्पणी लिखिये।
5. बोली एवं भाषा में कोई चार अन्तर बताइये।



इकाई – 3

ध्वनि एवं पद-विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 वाक् और ध्वनियंत्र

3.2.0 वाक्यंत्र का वर्गीकरण

3.3 ध्वनि परिवर्तन के कारण

3.3.0 आभ्यान्तर कारण

3.3.1 बाह्य कारण

3.3.2 ध्वनि परिवर्तन के अन्य कारण

3.4 ध्वनि-नियम

3.4.0 ग्रिम नियम

3.4.1 ग्रासमान नियम

3.4.2 वर्नर नियम

3.4.3 तालव्य नियम

3.4.4 मूर्धन्य नियम

3.4.5 अन्य नियम

3.5 पद-विज्ञान

3.5.0 पद और वाक्य

3.5.1 पद और शब्द

3.5.2 पद और सम्बन्धतत्त्व

3.5.3 पद-विभाग

3.6 अभ्यास प्रश्न

3.0 उद्देश्य :

1. भाषा की प्रथम इकाई ध्वनि के विषय में जानकारी करना।
2. ध्वनियंत्र किस प्रकार ध्वनि को भाषा में परिवर्तित करते हैं, इसके विषय में जानना।
3. ध्वनि किन कारणों से परिवर्तित होती है, इस बारे में जानकारी करना
4. ध्वनि-नियमों के विषय में जानना।
5. पद विज्ञान के विषय में विशद् जानकारी प्राप्त करना।

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों, यह इकाई ध्वनि एवं पद विज्ञान से सम्बन्धित है। इस इकाई में हम भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि एवं उनसे बनने वाले पदों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। ध्वनि की निष्पत्ति के लिए हमारे वाक्-यंत्र हैं, जिनसे विविध प्रकार की ध्वनि अथवा वर्णों का उच्चारण होता है। इसके साथ ही हम ध्वनि- नियमों के विषय में भी जानकारी करेंगे कि ग्रीम, ग्रासमान एवं वर्नर जैसे भाषा वैज्ञानिकों ने ध्वनि के विषय में क्या कहा है। इसके साथ ही पद-विज्ञान के अन्तर्गत पद और वाक्य, पद और शब्द, पद और सम्बन्ध तत्त्व तथा पद विभाग को भी सम्यक् प्रकार से जानेंगे।

3.2 वाक् और ध्वनि-यन्त्र :

ध्वनि-विज्ञान में ध्वनि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है। ध्वनि का एकमात्र साधन वाग्यन्त्र है। वाग्यन्त्र का सूक्ष्मता से ज्ञान ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा के लिए अनिवार्य है। ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है? किन स्थानों से होकर जाती है, कहाँ रुकती है, कहाँ संघर्ष करती है, कहाँ और कैसे घोष और अघोष का रूप धारण करती है, आदि के स्पष्ट ज्ञान के लिए वागिन्द्रिय या वाग्यन्त्र के प्रत्येक अवयव का ज्ञान अनिवार्य है। इसके आधार पर ही ध्वनिशिक्षा पूर्ण हो सकती है। जिन अवयवों या अंगों की सहायता से भाषा-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें वाग्यन्त्र, ध्वनियन्त्र या उच्चारण अवयव कहा जाता है।

मानवीय वाग्यन्त्र की तुलना वीणा या बाँसुरी आदि से की जा सकती है। वीणा आदि में एक ओर से वायु आती है, उसे कभी पूर्ण रूप से रोका जाता है, कभी अपूर्ण रूप से रोका जाता है और कभी पृथक्-पृथक् स्थानों से निर्गत करके सरगम की विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इसीप्रकार फेफड़ों से आने वाली निःश्वास वायु को स्वरतन्त्रियों, कोमल तालु, कठोर तालु, दन्त, ओष्ठ आदि से नियन्त्रित करते हुए सभी प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं। इन ध्वनियों के उत्पादन के लिए आवश्यक अंगों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

फेफड़े (Lungs) : ध्वनि के उत्पादन के लिए वायु की आवश्यकता होती है। यह वायु मनुष्य के फेफड़े प्रदान करते हैं। मानव में जीवित रहने के लिए दो प्रक्रियाएँ जीवनभर कार्य करती हैं-1. श्वास या प्रश्वास, अर्थात् प्राणवायु (ऑक्सीजन) को अन्दर लेना, 2. निःश्वास, अन्दर की दूषित वायु (कार्बन-डाई-ऑक्साइड) को बाहर निकालना। थोड़ी देर भी प्राणवायु (ऑक्सीजन) न मिलने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। जीवित रहने के लिए साँस लेने के साथ ही अन्दर की दूषित वायु को निकालना भी अनिवार्य है। यह प्रक्रिया दिन-रात चलती रहती है। सोते समय भी नासा-विवर से वायु अन्दर प्रविष्ट होती है और स्वरतन्त्रियों के मध्य से होते हुए फेफड़ों में पहुँचती है। इसीप्रकार यह बाहर आती है। श्वास-निःश्वास क्रिया के लिए स्वरतन्त्रियों का मुख सदा खुला रहता है।

मनुष्य के वक्षःस्थल के दोनों ओर फेफड़े धौकनी का काम करते हैं। उच्चारण के लिए आवश्यक वायु इनसे ही प्राप्त होती है। अन्दर से आने वाली दूषित वायु ही ध्वनि या भाषा के लिए प्राण या जीवन है। श्वास नली ही आगे चलकर दो भागों में विभक्त होकर दोनों फेफड़ों से संबद्ध है। इसके द्वारा ही श्वास और निःश्वास की प्रक्रिया होती है। फेफड़ों के अतिरिक्त निम्नलिखित यंत्र वाक् उत्पन्न करने का कार्य करते हैं-

1. श्वासनली (Wind-pipe) 2. ग्रसनी, भोजननली (Gullet) 3. स्वरयन्त्र (Larynx)
4. स्वरतन्त्री (Vocal Cords) 5. काकल (Glottis) 6. अभिकाकल (Epiglottis)
7. गलबिल, उपालिजिह्वा (Pharynx) 8. अलिजिह्वा, कौवा (Uvula)

- | | | |
|---|---------------------------------------|-----------------|
| 9. नासाविवर (Nasal Cavity) | 10. कोमल तालु (Soft Palate) | |
| 11. मूर्धा (Cerebrum) | 12. कठोर तालु (Hard Palate) | |
| 13. वर्क्स, बर्व (Alveolus) | 14. दन्त (Teeth) | 15. ओष्ठ (Lips) |
| 16. जिह्वाणि, जिह्वानोक (Tip of the Tongue) | 17. जिह्वाफलक (Blade of the Tongue) | |
| 18. जिह्वाग्र (Front of the Tongue) | 19. जिह्वामध्य (Middle of the Tongue) | |
| 20. जिह्वापश्च (Back of the Tongue) | | |

इन यन्त्रों का विस्तार से वर्णन इस प्रकार से है-

(1) श्वासनली (Wind pipe)

श्वासनली को Wind pipe (विंड पाइप) या Trachea (ट्रैकिया) कहते हैं। यह श्वासनली बाहर की वायु को फेफड़ों तक पहुँचाती है और अन्दर की दूषित वायु को बाहर लाने का काम करती है। इस बाहर आने वाली वायु से ही ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार श्वासनली का ध्वनि से साक्षात् सम्बन्ध है।

(2) ग्रसनी, भोजननली (Gullet)

श्वासनली के समानान्तर दूसरी नली भोजन नली या ग्रसनी है, जो भोजन को सीधे आमाशय तक पहुँचाती है। ये दोनों नलियाँ एक पतली दीवार के द्वारा पृथक् होती हैं। भोजन-क्रिया और श्वसन क्रिया गलबिल तक एक ही मार्ग से होती है। गलबिल पर पहुँचते ही दोनों क्रियाएँ अलग-अलग दो नलियों के द्वारा संपन्न होती हैं। गलबिल के बाद भोजननली या ग्रसनी का श्वसन क्रिया से सम्बन्ध नहीं है और श्वासनली का भोजन-क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। अतएव भोजन का छोटा कण भी श्वास नली में यदि पहुँचता है, तो हिचकी या खाँसी आ जाती है और अन्दर की वायु उस कण को मुँह या नाक के मार्ग से बाहर निकाल देती है। ग्रसनी को ग्रसनिका और भोजननली भी कहते हैं, इसका ध्वनि से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

(3) स्वरयन्त्र (Larynx) और (4) स्वरतन्त्री (Vocal Cords)

श्वासनली के ऊपरी भाग में अभिकाकल के कुछ नीचे स्वरयन्त्र स्थित है। यह ध्वनि-उत्पादन का प्रमुख अवयव है। ओस्कार रसेल (Oscar Russell) ने इसे 'मानवीय

ध्वनि-प्रसारण केन्द्र' कहा है। प्रो. नेगस (V.E. Negus) का कथन है कि यह यन्त्र ही है, जिसने मानव को भाषा देकर उसे मानव की श्रेणी में रखा है। फेफड़ों में जाने वाली (शवास) और फेफड़ों से बाहर आने वाली (निःशवास) वायु स्वरयन्त्र के मध्य से ही आती-जाती है। यह श्वासनली या ट्रेकिया के ऊपरी भाग में कार्टिलेज (कोमल हड्डी), मांसपेशी और झिल्ली की बनी हुई मिश्रित रचना है। वयस्क, वृद्ध और दुर्बल पुरुषों के गले में बाहर उभरा हुआ, जो अंश दिखाई देता है, उसे स्वरयन्त्र कहते हैं। इसे टेंटुआ या 'एडम्स एप्पल' (Adam's Apple) भी कहते हैं। इसके ठीक पोछे श्वासनली होती है, जो लम्बाई में लगभग 15 सेमी. होती है। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर कार्टिलेज के C के आकार के छल्ले होते हैं, जो इसे खुला रखने में सहायक होते हैं। स्वरयन्त्र में ओंठों के आकार की समानान्तर पड़ी हुई दो मांसपेशियों होती हैं। ये श्वास-मार्ग के ऊपर पड़े हुए दो रबड़ के छल्ले, दो परदे या एक किवाड़ के दो पल्ले के तुल्य होते हैं। इनकी आकृति तार, तन्त्री या रस्सी के तुल्य नहीं होती है, अतः इन्हें वस्तुतः Vocal Cords या Vocal Chords स्वर-तन्त्री या स्वर रज्जु नाम न देकर Vocal Lips (स्वर-ओष्ठ) कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु प्रचलन के आधार पर इसे स्वर-तन्त्री ही कहा जाता है।

ये दोनों स्वरतन्त्रियाँ श्वास नली के ऊपर दो परदों का काम करती हैं। रंगमंच के बीच से खुलने वाले दो परदों से इसकी समानता समझी जा सकती है। जिस प्रकार परदे बन्द होने पर रंगमंच का कोई दृश्य बाहर से नहीं दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों के पूर्ण रूप से बन्द होने पर कोई भी ध्वनि बाहर नहीं आ सकती है। जिस प्रकार रंगमंच के परदे खुलने पर अन्दर का दृश्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों के खुलने पर श्वास और ध्वनि बाहर आती है। जिस प्रकार रंगमंच के परदों को पूरा बन्द, थोड़ा खुला, आधा खुला, या पूरा खुला रख सकते हैं, उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों को पूरा बन्द, थोड़ा खुला, आधा खुला, या पूरा खुला रख सकते हैं। इनसे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। श्वासनली की उपमा बाँसुरी से दी जा सकती है। यह छिद्रवाली होती है। इसीप्रकार श्वासनली में वायु के आने-जाने का मार्ग होता है। स्वरयन्त्र की ओर से भोजन नली की ओर फैली हुई दो ओष्ठों के आकार की इसकी रचना होती है। स्वरतन्त्री इतनी कोमल, लचीली और कम्पनशील होती है कि इसकी तुलना कोमल से कोमल और कम्पनशील किसी वस्तु से नहीं की जा

सकती है। ये स्वरतंत्रियाँ विभिन्न अवस्थाओं में रह सकती हैं। कभी अगला भाग खुला रहता है, कभी मध्य का भाग और कभी अन्त का भाग। इसके अनुसार ही ध्वनियाँ भी अनेक रूप में हो जाती हैं। ढीली होने पर स्वरतंत्रियाँ अधिक कम्पनशील होती हैं। इनके कड़ा होने पर कम्पन कम या पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। पुरुषों में स्वरतंत्रियों के ढीले होने पर साधारणतया उनकी लम्बाई पौन इंच और स्त्रियों में आधी इंच होती है। ये जब तन कर खड़ी हो जाती हैं तो क्रमशः इनकी लम्बाई एक इंच और पौन इंच हो जाती है। स्वर-ओष्ठों या स्वरतंत्रियों के बीच में खुला भाग होता है, उसे स्वरयंत्र-मुख या काकल (Glottis) कहते हैं। इस स्थान से उच्चरित होनेवाली ध्वनियों को काकल्य (Glottal) कहा जाता है। सामान्यतया श्वास लेने की क्रिया में ये स्वरतंत्रियाँ पूर्णरूप से खुली रहती हैं और वायु निर्बाध रूप से आती-जाती रहती है।

स्वरतंत्रियों का प्राकृतिक कार्य है- किसी भार आदि को उठाते समय वायु के मार्ग को बन्द करके मानव की शक्ति को बढ़ाना। ध्वनि-उत्पादन स्वरतंत्रियों का एक प्रकार से कृत्रिम और गौण कार्य है। भाषा की उत्पत्ति के साथ स्वरतंत्रियों से यह काम भी लिया जाने लगा। जब स्वरतंत्रियाँ कठोरता से बन्द होती हैं, तो उस समय कोई श्वास बाहर नहीं आ सकता है। यदि फेफड़े से आने वाली वायु नीचे से जोर मारती है तो घर्-घर् की ध्वनि उत्पन्न होती है। काकल से उत्पन्न ध्वनि को काकल्य स्पर्श (Glottal Stop) कहते हैं। ये ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

स्वरतंत्रियों के दोनों ओष्ठ (Vocal Cords) अति कोमल और तीव्र गतिशील होते हैं। उच्चारण के समय ये दोनों बन्द और खुलते रहते हैं। इनकी स्वचालित (Automatic) बन्द होने वाले दरवाजे से उपमा दे सकते हैं। प्रत्येक ध्वनि के लिए यह द्वार खुलता और बन्द होता है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद यह द्वार स्वयं बन्द हो जाता है और अगली ध्वनि के लिए फिर तुरन्त खुलता है। ध्वनि के लिए यह एक प्रकार से गेट पास का काम करता है। बिना आन्तरिक स्वीकृति के एक भी ध्वनि स्वरतंत्री से बाहर नहीं आ सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव होगा कि वह क्रोध आदि के आवेश में कभी कुछ कहना चाहता है, परन्तु आन्तरिक स्वीकृति न मिलने के कारण वह अपने गुस्से को पी जाता है और एक भी अक्षर नहीं बोल पाता। इसका अभिप्राय यह है कि उन ध्वनियों के उच्चारण की स्वीकृति नहीं मिली,

अतः वे ध्वनियाँ स्वर-तंत्री से बाहर नहीं आयीं। स्वरतंत्री स्वचालित मशीन के तुल्य अत्यन्त तीव्र गति से कार्य करती है। एक सेकण्ड में 800 बार तक खुल और बन्द हो सकती है। वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से स्वरतंत्री के कम्पन की गणना की है। यह प्रति सेकण्ड कम से कम 42 चक्र और अधिक से अधिक 2048 चक्र प्रति सेकण्ड हो सकती है। सामान्यतया पुरुषों में बोलचाल के समय कम्पन की गति प्रति सेकण्ड 109 से 163 चक्र (Circles) होती है और स्त्रियों में प्रति सेकण्ड 218 से 326 चक्र। उच्चकोटि के वक्ता, अभिनेता और संगीतज्ञों में यह कम्पन भावावेश के अनुसार सामान्य से बहुत अधिक हो जाता है। प्रो. हेफनर ने ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री चर्चिल के वाशिंगटन में 16 मई, 1653 ई. के भाषण की चर्चा की है और कहा है कि इसकी परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि उनके भाषण के अधिकांश अंशों में स्वरतंत्रियों की गति 115 से 230 के बीच प्रति सेकण्ड थी।

स्वरतंत्रियों के खुलने, समीप आने, तनने, बन्द होने और अधखुले रहने आदि अवस्थाओं के कारण उनकी लगभग एक दर्जन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इनमें कुछ प्रमुख स्थितियों का वर्णन किया जा रहा है—

(1) स्वरतंत्रियों की प्रथम अवस्था वह है, जिसमें स्वरतंत्रियाँ पूर्णरूप से खुली रहती हैं। यह श्वास लेने (Inhalation) की स्थिति है। इस अवस्था में स्वरतंत्रियाँ शिथिल, पृथक् और निष्पन्द रहती हैं।

(2) यह निःश्वास (Exhalation) की स्थिति है। इसमें स्वरतंत्रियाँ श्वास लेते समय की तुलना में कुछ निकट होती हैं। स्वरतंत्रियों का मुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो वायु बाहर निकलती है, वह स्वरतंत्रियों से घर्षण नहीं करती है। इस स्थिति में जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, उनको अघोष (Voiceless) कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि श्वास लेते समय की तुलना में श्वास छोड़ते समय स्वरतंत्रियों का मुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। संस्कृत में इसको विवार (खुली हुई) अवस्था कहा गया है।

(3) इस अवस्था में स्वरतंत्रियाँ एक दूसरे के बहुत समीप आ जाती हैं। वे इतने समीप रहती हैं कि बाहर जाने वाली वायु रगड़ खा कर ही बाहर निकल सकती है।

वायु के इस रगड़ के कारण स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है। संस्कृत में इसको संवार (बन्द) अवस्था कहा जाता है। नाद या घोष ध्वनियाँ इस स्थिति में उत्पन्न होती हैं। अंग्रेजी में इन ध्वनियों को Voiced कहते हैं।

(4) स्वरतंत्रियों को अन्य दो प्रकार से रखने पर दो विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं-

(क) **फुसफुसाहट (Whispered)** इसमें स्वरतंत्रियों का मुख खुला रहता है और पिछला भाग बन्द रहता है। इसमें स्वरतंत्रियों के किनारे पर इतना तनाव रखा जाता है, जिससे कम्पन उत्पन्न न हो सके। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। फुसफुसाहट में तीन कार्य होते हैं (1) स्वरतंत्रियों में तनाव के कारण कम्पन का अभाव, (2) स्वरतंत्रियों का मुख खुला होना और पीछे के भाग का मिला होना, (3) स्वरतंत्रियों के ऊपर समानान्तर दो कृत्रिम स्वरतंत्रियों की सत्ता और उनके संकीर्ण होने के कारण वायु के मार्ग का अवरुद्ध होना। यदि मुख्य स्वरतंत्रियाँ खुली भी रहती हैं तो उनके ऊपर की कृत्रिम स्वरतंत्रियाँ वायु के मार्ग को खुला रखने या बन्द करने का कार्य करती हैं। वायु मार्ग को संकीर्ण कर देने से फुसफुसाहट ध्वनि उत्पन्न होती है।

(ख) **भनभनाहट या मर्मर (Murmur)**-इसमें स्वरतंत्री का मुख घोष ध्वनि वाली स्थिति की अपेक्षा कुछ अधिक चौड़ा होता है और स्वरतंत्रियाँ धीरे-धीरे कम्पित होती हैं तथा अधिकांश वायु को बिना रगड़ के निकल जाने देती हैं। इस प्रकार अर्धनाद युक्त ध्वनि को भनभनाहट कहते हैं। जब हम धीरे-धीरे बोलते हैं, तब भी सभी सघोष ध्वनियाँ भनभनाहट ध्वनि में परिवर्तित होती रहती हैं।

(5) काकल (Glottis) और (6) अभिकाकल (Epiglottis)

स्वरतंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच में जो खुला अंश रहता है, उसको काकल (Glottis) कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसको 'कण्ठ' नाम दिया है। प्राचीन ग्रंथों में इसके नाम 'कंठबिल', 'कण्ठगह्वर' आदि दिये गये हैं। हिन्दी में इसको काकल या कण्ठबिल कहते हैं। 'संगीत-दर्पण' में इसको 'शरीर-वीणा' नाम दिया गया है। श्वास और निःश्वास के लिए यह मार्ग सामान्यतया पूरा खुला रहता है। भाषण के समय यह पूर्ण या अपूर्ण रूप में अवरुद्ध होता रहता है।

जिह्वामूल के निचले भाग में छोटी जीभ के आकार का एक मांसल भाग है। इसे अभिकाकल, स्वरयंत्रमुख-आवरण या स्वरयंत्रावरण कहा जाता है। भोजन या पानी आदि जब मुख से होते हुए भोजन नलिका के मुख के पास पहुँचता है तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वासनलिका को बन्द कर देता है, जिसके कारण भोजन और पानी श्वासनली में न जाकर भोजन नली में जाता है। यदि भूल से अन्न या पानी इस नली में चला जाय तो तुरन्त मृत्यु हो सकती है।

अतः प्राकृतिक नियम है कि फेफड़े से आने वाली हवा इसको पूरी शक्ति लगाकर बाहर फेंक देती है। यह यंत्र ध्वनि उत्पादन में सामान्यतया प्रत्यक्ष रूप में सहायक नहीं है, तो भी ध्वनि-यंत्र की रक्षा के कारण अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनि-उत्पादन-प्रक्रिया का सहायक है। कतिपय ध्वनि-शास्त्री गाना गाते समय कुछ ध्वनियों पर इसका प्रभाव मानते हैं। प्रो. हेफनर ने कुछ स्वरों के उच्चारण में इसका प्रभाव स्वीकार किया है। यद्यपि यह गतिशील नहीं है, फिर भी जिह्वा के साथ स्वरों के उच्चारण में आगे या पीछे होता रहता है। आ के उच्चारण में यह जिह्वा के साथ पीछे हटता है और ई के उच्चारण में उतना ही आगे की ओर बढ़ता है।

(7) गलबिल (Pharynx)

अभिकाकल के ऊपर और नासाविवर के नीचे तथा जिह्वामूल के पीछे की ओर जो खाली स्थान है, उसे कण्ठबिल, कण्ठ, कण्ठमार्ग या उपालि-जिह्वा कहते हैं। यह एक प्रकार से मुख-विवर में एक चौक या चौराहा (Crossing) है। यहाँ से चार मार्ग इधर- उधर जाते हैं-1. मुख-विवर की ओर, 2. नासिका विवर की ओर, 3. श्वासनली की ओर, 4. भोजननली की ओर। जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर या नीचे करके विशेष प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। गलबिल को संकीर्ण करके किसी भी उच्चरित ध्वनि पर प्रभाव डाला जा सकता है। इसी स्थान से होकर अन्दर से आनेवाली वायु मुख-मार्ग या नासिका-विवर से निकलती है।

(8) अलिजिह्वा या कौवा (Uvula)

जहाँ से नासाविवर और मुख-विवर का रास्ता अलग होता है, उस स्थान पर छोटी जीभ की आकृति का एक गोल मांस-पिण्ड होता है। मुख खोलने पर यह जिह्वा

पश्च के समीप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसको अलिजिह्वा या कौवा कहते हैं। यह कोमल तालु से मिला हुआ उसका अन्तिम भाग है। यह कोमल तालु के साथ ऊपर या नीचे होता रहता है। यह नासिका-मार्ग को उन्मुक्त या अवरुद्ध करने का कार्य करता है। कोमल तालु के साथ अलिजिह्वा या कौवा की तीन अवस्थाएँ हैं-

(1) साधारण अवस्था में यह कोमल तालु के साथ ढीला होकर नीचे लटका रहता है। सामान्य अवस्था में या सोते समय जब मुँह बन्द रहता है, श्वास और निःश्वास बिना किसी अवरोध के बाहर-भीतर आता-जाता रहता है। कोमल तालु नीचे होने से फेफड़ों से बाहर आने वाली या अन्दर जाने वाली वायु सीधे नाक के मार्ग से बाहर आती-जाती है। सामान्य रूप से श्वास और निःश्वास में यही स्थिति रहती है। इस अवस्था में 'हाँ', 'ही', 'हूँ' जैसी ध्वनियाँ निकलती हैं।

(2) इस अवस्था में कौवा तन कर नासिका-मार्ग को रोक देता है और आने या जाने वाली वायु नासिका मार्ग से न जाकर पूर्णतया मुखविवर से आती-जाती है। सामान्यतया अनुनासिक ध्वनियों को छोड़कर शेष सभी स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इस दशा में होता है।

(3) इस दशा में कौआ मध्य में रहता है। यह तनकर न नासामार्ग को रोकता है और न ढीला होकर मुख-मार्ग को ही रोकता है, अतः श्वास नासिका और मुख दोनों में एकसाथ निकलती है। इस अवस्था में अनुनासिक स्वरों और नासिक्य व्यंजनों का उच्चारण होता है।

ध्वनि विज्ञान में द्वितीय और तृतीय स्थितियाँ विशेष सहायक हैं। कुछ भाषाओं में अलिजिह्वीय ध्वनियाँ भी मिलती हैं। इनके उच्चारण में अलिजिह्वा प्रत्यक्ष रूप में सहायक होता है। इनके उच्चारण में कौवा जिह्वापश्च से संयुक्त होता है। यह निम्नलिखित रूपों में सहायक होता है-

(क) कौवा जिह्वापक्ष से मिलकर स्पर्श ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे उर्दू वक फारसी की क्राफ क (Q) ध्वनि, कल्ल आदि।

(ख) कौवा जिह्वापश्च के समीप होकर वायु मार्ग को अत्यन्त संकीर्ण कर देता है। वायु रगड़ खाकर निकलती है। ऐसी ध्वनियाँ अरबी भाषा में मिलती हैं।

(ग) कौवा जिह्वापक्ष के समीप होकर संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे अरबी या फारसी को ख़ ग़ आदि ध्वनि।

(घ) कौवा जिह्वापक्ष या जिह्वामूल से उत्क्षिप्त होकर विशेष ध्वनि उत्पन्न करता है। यह फ्रेंच भाषा की र ध्वनि है, जो ग़ के तुल्य सुनाई पड़ती है।

(9) नासाविवर (Nasal Cavity)

यह गलबिल से प्रारम्भ होकर नासिका के अग्रभाग तक फैला हुआ है। इसके अन्दर एक विवर है। इस विवर से वायु के निर्गत होने पर अनुनासिक या नासिक्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

(10) कोमल तालु (Soft Palate)

मुखविवर के ऊपर के अंश को भागों में बाँटा जाता है। 1. दन्त, 2. वर्त्स 3. कठोरतालु 4. मूर्धा, 5. कोमल तालु। गलबिल की ओर से आगे आने पर कोमल तालु मिलता है। यह कठोर तालु की समाप्ति से लेकर गलबिल तक फैला हुआ है। यह कोमल मांसखण्ड के तुल्य है। यदि मुख के अन्दर अगू से मुख के अन्तिम ऊपरी भाग को स्पर्श करें तो ज्ञात होगा कि लगभग ढाई इंच के बाद कठोर तालु समाप्त हो जाता है। वहाँ से कोमल तालु प्रारम्भ होता है। कोमलतालु एक ढक्कन के तुल्य ऊपर-नीचे हो सकता है। यह नीचे होने पर मुखमार्ग को बन्द कर देता है और तन कर ऊपर होने पर नासिक मार्ग को। ध्वनि विज्ञान में यह एक महत्वपूर्ण अवयव है। यह मुख-विवर और कपाट या ढक्कन के तुल्य कार्य करता है। स्वरों (अ, इ आदि) और स्पर्श व्यंजनों (क, ख, ग आदि) के उच्चारण में कोमल तालु ऊपर उठकर नासा-रन्ध्र को बन्द कर देता है, अतः पूरी वायु मुख-मार्ग से निकलती है। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में कोमल तालु नीचे आ जाता है और मुख-द्वार को बन्द कर देता है, अतः पूरी वायु नासाविवर से ही निकलती है। जब कोमल तालु थोड़ा नीचे की ओर झुका हुआ रहता है, तब आन्तरिक वायु मुखमार्ग और नासामार्ग दोनों ओर से निकलती है।

(11) मूर्धा (Cerebrum)

यह कठोर तालु के पीछे की ओर का अन्तिम भाग है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इसको कठोर तालु का ही एक अंश मानते हैं और इसकी पृथक् सत्ता नहीं मानते हैं।

टवर्गीय ध्वनियाँ इस स्थान से उच्चरित होती हैं। जीभ को उलटकर इस स्थान पर पहुँचाया जाता है। इससे उच्चरित ध्वनियों को 'मूर्धन्य' कहते हैं।

(12) कठोर तालु (Hard Palate)

कोमलतालु की ओर से आगे बढ़ने पर कठोर अस्थिवाला भाग मिलता है। इसको कठोर तालु कहते हैं। यह वर्त्स से लेकर कोमल तालु तक मुख-विवर के ऊपरी भाग में फैला हुआ है। इस स्थान पर हड्डी के ऊपर पतला मांस का आवरण है, अतः अँगूठे से स्पर्श करने पर यह कठोर हड्डी की तरह प्रतीत होता है। वाग्यन्त्र का यह एक स्थिर अंग है। यह निश्चेष्ट रहता है। इससे उच्चरित ध्वनियों को 'तालव्य' कहते हैं। यहाँ से उच्चरित स्वरों में इ, ई तथा व्यंजनों में चवर्गीय च, छ आदि ध्वनियाँ तालव्य हैं।

(13) वर्त्स (Alveolus)

यह दाँतों के मूल से लेकर कठोर तालु के प्रारम्भ तक का भाग है। दाँतों की जड़ में यह उभरा हुआ खुरदुरा भाग शवर्क्स कहलाता है। यह शुद्ध शब्द बर्ब है, किन्तु प्रचलन के आधार पर इसको वर्त्स कहा जाता है। यह भाग दर्पण में देखा जा सकता है और दाँतों के पीछे उँगली फेर कर इसकी विषमता का अनुभव किया जा सकता है। यह एक निष्क्रिय अवयव है। जीभ के विभिन्न भागों के स्पर्श या समीपवर्ती होने से यह ध्वनि-उत्पादन में सहायक होता है। इस स्थान से उच्चरित ध्वनियों को वर्त्स्य कहते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में इसका नाम वर्स्व है और इससे उच्चरित ध्वनियों को वर्त्स कहते हैं। वर्क्स और वर्त्स शब्द आजकल अधिक प्रचलित हैं।

(14) दन्त (Teeth)

दाँतों का ध्वनि-विज्ञान में विशेष महत्त्व है। यद्यपि पाचन क्रिया के अंग के रूप में इनका अधिक उपयोग होता है, तथापि सामने के ऊपर के दो दाँत ध्वनि-उच्चारण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। नीचे के दाँतों का ध्वनिविज्ञान में बहुत कम उपयोग होता है। ऊपर के दाँत ओष्ठ से या जिह्वा की नोक से मिलकर विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होते हैं। अंग्रेजी के thin (थिन) के थ् और this (दिस) तथा that (दैट) के

द् के उच्चारण में इनका उपयोग स्पष्ट है। नीचे के दाँत S, Z ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होते हैं।

दाँत के भी तीन भाग किये जा सकते हैं- अग्र, मध्य और मूल। दाँतों का बाहर निकला हुआ नुकीला भाग अग्र है। पीछे की ओर बीच का भाग मध्य है और पीछे की ओर मसूड़े से मिला हुआ भाग मूल है। इनको दन्ताग्र, दन्त-मध्य और दन्त-मूल कहेंगे। त, द और न के उच्चारण में क्रमशः ये भेद स्पष्ट होते हैं। सामान्यतया तीनों भेदों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को दन्त्य (Dental) कहते हैं।

(15) ओष्ठ (Lips)

यह वाग्यन्त्र का सबसे बाहरी अवयव है। यह एक महत्वपूर्ण अंग है। वाग्यन्त्र के अन्य अवयव आच्छादित हैं और यह उनका आच्छादक है। ऊपर और नीचे के ओष्ठों में से ऊपर के ओष्ठ की अपेक्षा नीचे का ओष्ठ अधिक क्रियाशील है। अतएव ध्वनि-विज्ञान में ओष्ठ शब्द का अभिप्राय नीचे का ओष्ठ ही लिया जाता है। ओष्ठों का निम्नलिखित रूपों में उपयोग किया जा सकता है-

(क) दोनों ओष्ठ पूर्णतया पृथक् और खुले रह सकते हैं। जैसे आ के उच्चारण में। (ख) दोनों ओष्ठ पूर्णतया बन्द हो सकते हैं। जैसे प, ब, म के उच्चारण में। (ग) दोनों ओष्ठों के मध्य थोड़ा-सा अवकाश रख सकते हैं। इसे अर्धउन्मुक्त अवस्था कहेंगे। जैसे दीपक बुझाते समय फू के उच्चारण में फ ध्वनि का उच्चारण। (घ) दोनों ओष्ठों को संकुचित करके बाहर की ओर बढ़ा कर गोलाकार अवस्था में रखना। इस अवस्था में कतिपय ध्वनियों का उच्चारण होता है। ये ध्वनियाँ अधिकांशतः अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में मिलती हैं। जैसे-अंग्रेजी के Well और Wheel के व् और हव् के उच्चारण में। फ्रेंच भाषा के Loup (लू, भेड़िया) और जर्मन के Gut (गुत, अच्छा) के उ के उच्चारण में यह स्थिति होती है। (ङ) नीचे का ओष्ठ ऊपर के दाँतों के पास जाकर छोटा-सा छेद बनाता है। इस अवस्था में फ और व ध्वनियाँ निकलती हैं।

ओष्ठ को आकार की दृष्टि से 3 भागों में बाँटा जा सकता है-1. उदासीन स्थिति- इसमें दोनों ओष्ठ अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं। जैसे-उदासीन स्वर अ के उच्चारण में। 2. पूर्ण गोलाकार स्थिति- इसमें दोनों ओष्ठ मिलकर कुछ बाहर की

ओर निकले हुए होते हैं। दाँतों के बीच में एक छोटा छिद्र रह जाता है। जैसे-उ, ऊ के उच्चारण में। 3. पूर्ण विस्तृत स्थिति- इसमें दोनों ओष्ठ तने रहते हैं और इनके दोनों कोण एक-दूसरे से पूर्ण दूरी पर रहते हैं। जैसे दीर्घ ई के उच्चारण में।

(16-20) जीभ (Tongue)

ध्वनि-विज्ञान में जिह्वा का अत्यन्त महत्त्व है। जिह्वा ही वह साधन है, जिसके द्वारा विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण हो पाता है। जिह्वा यद्यपि भोजन खाने में भी रसास्वाद आदि का कार्य करती है, तथापि भाषा, उसके लिए अत्यन्त ऋणी है। भाषण-क्रिया में जिह्वा का जितने रूप में सहयोग है, उतने रूपों में अन्य किसी अवयव का नहीं। यही कारण है कि भाषा-सम्बन्धी अधिकांश नाम जिह्वा के आधार पर ही प्रायः रखे गये हैं। जीभ को फ्रेंच में *Langue* (लांग) और लैटिन में *Lingua* (लिंग्वा) कहते हैं। इन शब्दों के आधार पर ही *Language* (लैंग्वेज, भाषा) और *Linguistics* (लिंग्विस्टिक्स, भाषाविज्ञान) शब्द बने हैं। अरबी भाषा का जबान (भाषा) शब्द वाणी या जिह्वा के आधार पर ही बना है।

यह मुख के निचले भाग में पड़ी रहती है। साधारण अवस्था में यह नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने की अवस्था में यह विभिन्न स्थानों से सम्पर्क करती है और नाना प्रकार की ध्वनियों का निर्माण करती है। यह दाँत के पास से लेकर गलबिल तक फैली हुई है। रचना के आधार पर इसे पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है-1. जिह्वाणि (जिह्वा की नोक), 2. जिह्वाग्र, 3. जिह्वा मध्य, 4. जिह्वा-पश्च, 5. जिह्वा मूल। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने इसके 4 भाग किये हैं- 1. जिह्वाणि (*Tip of tongue*), 2. जिह्वाफलक (*Blade of tongue*), 3. जिह्वाग्र (*Front of tongue*), 4. जिह्वापश्च (*Back of tongue*)। पाश्चात्य विद्वानों ने जिह्वाग्र के लिए जिह्वाफलक शब्द का प्रयोग किया है और जिह्वा-मध्य को जिह्वाग्र कहा है। उन्होंने जिह्वा पश्च में ही जिह्वा पश्च और जिह्वामूल दोनों का समावेश किया है। संस्कृत के भाषाशास्त्रियों ने जिह्वामूल को पृथक् माना है।

(16) **जिह्वाणि, जिह्वानोक** (*Tip of the Tongue, Apex*) : जिह्वा के सबसे आगे के नोकवाले अंश को जिह्वानोक या जिह्वाणि कहा जाता है। संस्कृत में अणि और

अणी शब्द सुई आदि की नोक के लिए प्रयुक्त होता है। अतः जिह्वा नोक के स्थान पर जिह्वाणि शब्द अधिक उपयुक्त है। यह जिह्वा का सबसे अधिक गतिशील अंश है। दाँत में दर्द आदि की स्थिति में यह अंश ही सबसे पहले उस स्थान पर बार-बार पहुँचता है। ध्वनि-उत्पादन में अनेक प्रकार से इसका उपयोग होता है-

1. यह कभी उदासीन रहती है अर्थात् नीचे के दाँतों की जड़ में चिपकी हुई-सी रहती है। जैसे-आ स्वर के उच्चारण में यह नीचे के दाँतों की जड़ में चिपकी रहती है।

2. जब ऊपर के दाँतों का स्पर्श करती है तो इससे त्, थ्, द् आदि ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

3. वर्त्स का स्पर्श करती है तब इससे वर्त्स्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे-अंग्रेजी के Two, do में त, द का उच्चारण।

4. आगे के दाँत या वर्त्स के समीप होकर संचर्षी ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है। जैसे- हिन्दी की स ध्वनि।

5. अन्दर से आने वाली वायु को आलोडित करके एक से अधिक बार हिल कर हिन्दी की र ध्वनि को उत्पन्न करती है।

6. दाँत या वर्त्स के मध्य भाग को स्पर्श करने पर यदि जिह्वा के एक या दोनों भाग उठे रहते हैं, तो पार्श्वक (Lateral) ध्वनि उत्पन्न होती है। जैसे- हिन्दी या अंग्रेजी की ल् ध्वनि।

7. यह ऊपर की ओर मुड़ कर मूर्धन्य ध्वनियों की सृष्टि करती है। जैसे संस्कृत या हिन्दी की ट, ठ आदि ध्वनियाँ।

जिह्वाणि (Apex) से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को जिह्वाणीय या जिह्वानुकीय (Apical) कहते हैं।

(17) जिह्वाफलक (Blade of the Tongue)-जिह्वा क अग्र-बिन्दु से मिला हुआ जो भाग साधारणतया मुख से बाहर निकाला जाता है, उसे जिह्वाफलक कहते हैं। स्वाभाविक स्थिति में यह भाग वर्त्स के ठीक नीचे पड़ता है। यह जिह्वा का आगे

की ओर से लगभग आधा इंच अंश है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने इसे जिह्वाफलक या ब्लेड (Blade) नाम दिया है। यह हिन्दी या अंग्रेजी के स (S) के उच्चारण में सहायक होता है।

(18) **जिह्वाग्र** (Front of the Tongue) यह अंश साधारण स्थिति में कठोर तालु के ठीक नीचे पड़ना है। इसको जिह्वाग्र कहा जाता है। यह जिह्वाफलक से लेकर लगभग डेढ़ इंच पीछे तक फैला होता है। यह भाग तालु में पहुँचकर वायु को पूर्णतया रोक लेता है। इसकी सहायता से उत्पन्न ध्वनियों को तालव्य कहा जाता है। यह विभिन्न रूपों में ध्वनि-उत्पादन में सहायक होता है-

(क) यह तालुप्रदेश में वायु को पूर्ण रूप से रोक कर' ध्वनि को उत्पन्न करता है। जैसे फ्रेंच Agneau (आओ, भेड़) या इटालियन-Ogni (ओजि, सब) या प्राकृत-राओ (राजा)।

(ख) जिह्वा का मध्य भाग नालिका के रूप में होता है और तालु के कठोर भाग के सामने संकुचित मार्ग बनाकर संघर्षी ध्वनि श और ज उत्पन्न करता है।

(ग) अन्दर से आने वाली वायु को मुखविवर में विभिन्न रूपों में प्रभावित करके इ, ए आदि स्वरों के उत्पादन में सहायक होता है। इन स्वरों के उच्चारण में यह भाग विभिन्न मात्रा में कठोर तालु की ओर अग्रसर होता है। इन स्वरों को अग्र-स्वर कहा जाता है।

(घ) यह अंश कठोर तालु से मिलकर वायु-मार्ग को पूर्णतया बन्द कर देता है। इससे च, छ आदि तालव्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। फ्रेंच भाषा में भी ऐसी ध्वनियाँ प्राप्य हैं।

(ङ) जब यह अंश कठोर तालु से मिला होता है और जिह्वा के एक या दोनों पार्श्व खुले रहते हैं तो इससे तालव्य पार्श्वक ध्वनि की उत्पत्ति होती है। जैसे इटालियन भाषा में ग्ल (gl) ध्वनि और स्पेनिश भाषा में ल्ल (ll) ध्वनि। इटालियन Egli (एग्लि, वह) और Doglia (डोग्लिया, दुःख), स्पेनिश Llamar (ल्लमार, पुकारना)।

इस स्थान से उत्पन्न ध्वनियों को तालव्य (Palatal) या अग्र्य (Front) कहा जाता है। तालु के अग्र, मध्य और पश्च भाग से उच्चरित ध्वनियों को क्रमशः ताल्वग्रीय (Prepalatal), तालुमध्यीय (Medio & palatal) और तालपश्चीय (Post&palatal) कहा जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इसका नाम जिह्वाग्र (Front of the Tongue) दिया है। अतएव इस स्थान से उच्चरित स्वरों को अग्र्य स्वर (Front Vowel) कहा जाता है।

(19) जिह्वामध्य (Middle of the Tongue)—यह जिह्वाग्र और जिह्वापश्च के मध्य का भाग है। यह कठोर तालु और कोमल तालु के संधिस्थल के नीचे का भाग है। इसके द्वारा मध्यस्वर या केन्द्रीय स्वरों (Central Vowels) का उच्चारण होता है। ऐसी ध्वनियाँ अंग्रेजी और जर्मन आदि में प्राप्य हैं। उल्टा ई, श्वा Schwa का उच्चारण यहीं से होता है।

(20) जिह्वापश्च, जिह्वामूल (Back of the Tongue, Dorsum, डोर्सम, Root of Tongue) जिह्वामध्य के डेढ़ इंच के बाद जो भाग शेष रहता है, उसको पाश्चात्य विद्वानों ने जिह्वापश्च नाम दिया है। उन्होंने जिह्वापश्च और जिह्वामूल दोनों को एक में ही संग्रह किया है। जिह्वा की साधारण स्थिति में यह अंश कोमल तालु के नीचे पड़ता है। कोमल तालु के विषय में बताया जा चुका है कि इसके साथ ही कौवा भी सम्बद्ध है। यह नासा-विवर के लिए ढक्कन का काम देता है। जिह्वापश्च का पिछला भाग कोमल तालु से मिलकर विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। यथा—

(क) यह अन्दर से आनेवाली वायु को विभिन्न रूपों में प्रभावित करके उ, ओ आदि स्वर ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है। मानस्वर के सभी पश्चस्वर (Back Vowel) जिह्वापश्च के ऊपर या नीचे होने से होते हैं।

(ख) यह कोमल तालु के साथ मिलकर कण्ठ्य ध्वनियों क्, ख्, ग् आदि की सृष्टि करता है।

(ग) जिह्वापश्च का अन्तिम भाग अर्थात् जिह्वामूल कोमलतालु और कौवा से मिलकर जिह्वामूलीय, क्, ख् आदि ध्वनियों की सृष्टि करता है। उर्दू, फारसी और अरबी में ऐसी जिह्वामूलीय ध्वनियाँ अनेक हैं। ल्क, ल्ग आदि ध्वनियों के उच्चारण में

जिह्वा-पश्च ल के उच्चारण करते समय पार्श्व से वायु को निकलने देता है। जैसे मिल्क (Milk, दूध) या वल्गर (Vulgar, असभ्य) के उच्चारण में ल् ध्वनि का उच्चारण।

(घ) जिह्वापश्च के पार्श्व भाग उठे रहते हैं, नाली-सी बनाते हैं। कौवा उस नाली के सामने लटक कर एक संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे- फ्रेंच भाषा का रूज (Rouge, लाली) शब्द, यह कुछ गूज-सा उच्चारित होता है।

(ङ) जिह्वापश्च कोमलतालु और कौवा के समीपवर्ती होकर वायु-मार्ग को संकीर्ण करता है। इससे संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती है। ये ध्वनियाँ उर्दू और अरबी के ख़, ग के उच्चारण में सुनाई पड़ती हैं।

(च) जिह्वापश्च पीछे की ओर हट कर गलबिल के मार्ग को संकीर्ण करके एक विशेष प्रकार की संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। ऐसी एक ध्वनि अरबी में सुनाई पड़ती है।

जिह्वापश्च से उच्चरित ध्वनियों को जिह्वापश्चीय कहा जाता है। इसका प्रचलित नाम कण्ठ्य है। कण्ठ्य के अग्र, मध्य और पश्च स्थानों के भेद से यहाँ से उत्पन्न ध्वनियों को क्रमशः कण्ठाग्रीय (Prevelar), कण्ठमध्वीय (Mediovelar), कण्ठ-पश्चीय (Post-velar) कहते हैं। कण्ठपश्चीय को अलिजिह्वीय (Uvular) भी कहते हैं। गलबिल में उत्पन्न ध्वनियों को जिह्वामूलीय, उपालिजिह्वीय या गलबिलीय (Pharyngal) कहते हैं। जिह्वापश्च से उच्चरित स्वर ध्वनियों को पश्च-स्वर कहा जाता है। इसमें उ, ओ, आ ध्वनियाँ जिह्वा-पश्च को ऊँचा या नीचा करके उच्चरित होती हैं।

3.2.0 वाग्यन्त्र का वर्गीकरण

दो भेद- वाग्यन्त्र के समस्त अवयवों को कार्य और उपयोगिता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है 1. करण (Articulators) 2. स्थान (Points of Articulation)।

1. करण (Articulator) वाग्यन्त्र के उन अवयवों को कहते हैं, जो सामान्यतया इधर-उधर गतिशील हो सकते हैं और इस आधार पर वे अपनी विभिन्न स्थितियाँ धारण

कर सकते हैं। इस दृष्टि से ओष्ठ और जिह्वा आदि करण कहे जाते हैं। ये अवयव अपने स्थान से हिल सकते हैं। इसी आधार पर जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भेद किये जाते हैं। इसके ऊँचाई और निचाई के आधार पर संवृत, अर्ध-संवृत, अर्ध-विवृत और विवृत भेद किये जाते हैं। इसीप्रकार ओष्ठ के वृत्ताकार, अवृत्ताकार भेद किये जाते हैं।

2. स्थान या उच्चारण-स्थान (Points of articulation) वाग्यंत्र के उन अवयवों को कहते हैं, जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं और जिह्वा आदि जिन स्थानों के पास जाती है या उनका स्पर्श करती है। दन्त, तालु, मूर्धा आदि इस प्रकार के अवयव हैं। जिह्वा दाँत, तालु, मूर्धा आदि के समीप जाती है या उनका स्पर्श करती है। जिह्वा की यह गतिशीलता न होती तो अनेक ध्वनियों का उच्चारण सम्भव ही न होता। ऊपर के दाँतों को इस स्थान में लिया जाता है, क्योंकि वे अपने स्थान पर स्थित हैं, उनमें गति नहीं है और जिह्वा करण के रूप में उसका स्पर्श करती है। इन अवयवों का विस्तृत वर्णन यथा-स्थान किया गया है।

3.3 ध्वनि-परिवर्तन के कारण (Reasons of Phonetic Changes)

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है, हो रहा है और होता रहेगा। इसको ही वैदिक ऋषि ने 'यत् किं च जगत्यां जगत्' (यजु. 40-1) कहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु संसरणशील, परिवर्तनशील है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इसी परिवर्तन के कारण एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप हो जाते हैं। जैसे मनुष्य, मानुष, मानस, मनुस आदि। अतएव महाभाष्यकार पतंजलि ने कहा है-

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। (महाभाष्य, प्रथम आह्निक)

भाषा का प्रमुख तत्त्व ध्वनि है। वक्ता इसका उच्चारण करता है और श्रोता इसे सुनता है। वक्ता की ध्वनि पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है- 1. आभ्यन्तर, 2. बाह्य। वक्ता और श्रोता से संबद्ध कारणों को आभ्यन्तर कारण कहते हैं। जैसे- प्रयत्नलाघव, मुखसुख, अज्ञान, शीघ्रभाषण आदि। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों को बाह्य कारण कहते हैं। ये कारण बाहर से ध्वनि को प्रभावित करते हैं। जैसे सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक आदि कारण।

इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- (क) आन्तरिक कारण, (ख) बाह्य कारण।

3.3.0 आन्तरिक कारण

(1) प्रयत्नलाघव या मुखसुख (Economy of effort)- इसको उच्चारण-सुविधा या उच्चारण-सौकर्य भी कहते हैं। यह ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण है। मनुष्य स्वभाव से ही कम प्रयत्न करके अधिक लाभ उठाना चाहता है। कम प्रयत्न से ही अपने भावों को स्पष्ट करना चाहता है। मुख की सुविधा के कारण इसे मुख-सुख और उच्चारण की सुविधा या सरलता के कारण उच्चारण-सुविधा आदि कहते हैं। मुख-सुख के लिए कठिन शब्दों को सरल बनाया जाता है और क्लिष्ट उच्चारणों को आदि-स्वरागम, मध्य स्वरागम आदि के द्वारा सरल बनाया जाता है। जैसे सत्य > सच, कर्म>काम, चक्र>चक्कर, ब्राह्मण>बाम्हन, प्रचार>परचार, स्टेशन>इस्टेशन, हॉस्पिटल>अस्पताल।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। शिलालेखों में शुक्लपक्ष दिवस को शुदि>सुदी, बहुल पक्ष (कृष्ण पक्ष) दिवस को ब दि>बदी लिखा गया है। इससे सुदी और बदी शब्द प्रचलित हुए हैं।

संस्कृत व्याकरण में प्रत्याहार इसी प्रक्रिया के परिचायक हैं। जैसे अच्=पूरे स्वर, हल्=पूरे व्यंजन, अल्=पूरी वर्णमाला। इसीप्रकार इक्, यण्, एच्, खर, जश आदि शब्द।

ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण प्रयत्नलाघव है। यही समीकरण, विषमीकरण, लोप, आगम, वर्ण-विपर्यय आदि के मूल में है।

(2) लघुकरण की प्रवृत्ति- लंबे शब्दों को संक्षिप्त या लघु कर दिया जाता है। इसके मूल में भी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति है। यह प्राचीन प्रवृत्ति है। वार्तिककार कात्यायन ने भी इसका निर्देश दिया है कि नामों आदि में एक अंग के उच्चारण से काम चलाया जाता है। जैसे-देवदत्तः को देवः या दत्तः, सत्यभामा को सत्या या भामा।

विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः। (वार्तिक, सूत्र सं. 5.3.83)

इसीप्रकार उपाध्याय>ओझा या झा, नेफा, पेप्सू, मीसा, यूनेस्को आदि शब्द हैं। अंग्रेजी में पूरे नाम के स्थान पर प्रथम अक्षर ले लिए जाते हैं। जयदेव>J.D., राम

दत्त>R.D.। हाई-स्कूल H.S., मास्टर ऑफ आर्ट्स M.A. आदि। इसीप्रकार भारत-यूरोपीय>भारोपीय शब्द है। अंग्रेजी में Break fast+Lunch=Brunch जैसे शब्द प्रचलित हो गए हैं। North East West South से News (समाचार) बना है।

(3) **अनुकरण की अपूर्णता**- अनुकरण के द्वारा ही भाषा सीखी जाती है। वाग्यन्त्र की त्रुटि या अज्ञान आदि के कारण अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता है, अतः कुछ शब्दों में परिवर्तन हो जाता है। र का उच्चारण कठिन है, अतः बच्चे राम को लाम, रोटी को लोटी या नोटी कहते हैं। अपढ़ आदमी ज्वायंट को जैन, इंस्पेक्टर को सिपट्रर, कोर्ट इंस्पेक्टर को कोट साहब आदि कहते हैं। अंग्रेजी के प्रभाव से दीप्ति-शंकर>डिप्टी शंकर हो गया है। ऊँ नमः सिद्धम्>ओनामासीधम् हो गया है।

(4) **अशिक्षा**- अशिक्षा या अज्ञान के कारण ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। लैन्टर्न > लालटेन, गार्ड>गारद, लाइन>लैन। यह उपर्युक्त दोनों कारणों के साथ मिलकर भी काम करता है। जैसे- मास्टर साहब>मास्साब, साधु>साहु, गोस्वामी>गोसाईं। अंग्रेजी और अरबी-फारसी आदि के शब्दों में ज को क, क को ग, त को ट आदि कर देते हैं। वन्द्योपाध्याय>वनर्जी, मुख्योपाध्याय> मुकर्जी, गंगोपाध्याय>गांगुली भी इसीप्रकार बने हैं।

(5) **शीघ्र भाषण**- शीघ्र बोलने के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। इसमें मध्यगत ध्वनियों का प्रायः लोप हो जाता है। इसके साथ लघुकरण की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। जैसे पद्मादत्त दादा>पद्दा, पदिया (कुमाऊँनी), लालमणि दादा>लल्दा, भ्रातृजाया>भौजी, उन्होंने>उन्ने, किसने> किन्ने, अब ही>अभी, तब ही>तभी, किस ही>किसी, अंग्रेजी में Do not>Don't, Will not > Won't.

(6) **भावावेश**- प्रेम, क्रोध आदि भावावेश में शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। राम> रामू, कृष्ण>कान्हा, कन्हैया, लालचन्द>लल्लू, पुरुषोत्तम>परसू, माँ>मम्मी, पिता>पापा, लालित>लाड़ला, बच्चा>बाचा, बचवा, बाबू>बबुआ, बेबू आदि। ऐसे शब्दों की संख्या न्यून है।

(7) **काव्यात्मकता**- काव्य में छन्द के कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता है। इसके लिए कभी ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व, कुछ वर्णागम आदि किया जाता

है। संस्कृत की सूक्ति है 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्' माष (उड़द) को मष कर दे, पर छन्दभंग न करे। हिन्दी के सभी काव्यों में, विशेषकर सूर, तुलसी और रीतिकालीन कवियों के काव्यों में यह प्रवृत्ति बहुत है। फलस्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। लय एवं तुक के लिए बहुत से शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन किया जाता है। जैसे वीर>वीरा, कबीर>कबिरा, सूर>सूरा, नदी>नदिया, देहली>देहरी, द्वार>दुआर, स्थिर >थिर, नहीं>नाहीं।

(8) **बलाघात**— ध्वनिपरिवर्तन में बलाघात का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस ध्वनि पर बल दिया जाता है, वह शेष रहती है, अन्य निर्बल ध्वनियाँ क्षीण हो जाती हैं। अतएव संस्कृत में चतुरीय और चतुर्य के तुरीय और तुर्य (चतुर्थ) रूप हो जाते हैं। इसीप्रकार अभ्यन्तर>भीतर, उपरि>पर, एकादश> ग्यारह, द्वादश>बारह।

(9) **कृत्रिमता**— आत्माभिव्यक्ति के लिए कुछ व्यक्ति शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बोलते हैं। इसे बनावटीपन कह सकते हैं। इसीप्रकार यदृच्छा (बनावटी) शब्द भी गढ़ लिए जाते हैं। इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता है। जैसे-भाई>भइया, भ्राता>प्रा (पंजाबी), बैठो>बैटो, उठो>उट्टो, बहिनो>भैनो, छात्र>क्षात्र, स्मरण>सुमिरन, शुमिरन, स्पष्ट>अस्पष्ट।

(10) **भ्रामक व्युत्पत्ति**—भ्रमवश कुछ शब्दों को स्वभाषा के अनुरूप बना लिया जाता है। अन्य भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा में लेते समय प्रायः इस प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। मैक्समूलर>मोक्षमूलर, इन्तिकाल (अरबी)>अन्तकाल, प्रोग्राम>पुरोगम, लाइब्रेरी>रायबरेली, आर्ट्स कालेज > आठ कालेज, गो डाउन>गोदाम, बनर्जी>बन्दर जी।

3.3.1 बाह्य कारण

(1) **भौगोलिक प्रभाव**— भौगोलिक कारणों से ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। फारसी में स का ह हो जाता है। जैसे सिन्धु>हिन्दु, सप्ताह>हफ्ता। पहाड़ी जिलों में स को श बोलते हैं। समाचार>शमाचार, सन्देश>शन्देश, सीट>शीट। उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में भौगोलिक कारणों से ही ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। जैसे उच्च जर्मन में d>t (द् को त्) drink>trinken, day>tag आदि के t>Z (त् को त्स) two zwei, th को d (थ्>द्) earth > erde, brother>bruder.

(2) **सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ**— सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति या अवनति के कारण शब्दों में ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। उन्नति की अवस्था में शब्दों के शुद्धरूप पर बल दिया जाता है और अवनति के समय अपभ्रंश रूपों की अधिकता होती है। पण्डित>पंडा, यजमान> जजमान, दिल्ली>देहली, मुंबई>बम्बई, कलिकाता>कलकत्ता, बुद्ध>बुद्ध, लुंचितकेश>लुच्चा, आर्डर्ली>अर्दली, वाराणसी> बनारस।

(3) **काल-प्रभाव** या स्वाभाविक विकास-काल के प्रभाव से भाषा में या परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप वैदिक संस्कृत से संस्कृत, प्राकृत, वर्तमान भारतीय भाषाओं का विकास हुआ। जैसे दृश् से देखना, अस् से पीना, वर्तते > बाटे, बा, निवर्तते > निबटता है।

(4) **लिपि-दोष**— विभिन्न लिपियों की अपूर्णता के कारण भी ध्वनि परिवर्तन देखा जाता है। अंग्रेजी और उर्दू आदि के प्रभाव के कारण ध्वनियों के उच्चारण में अन्तर हो गया है। जैसे अंग्रेजी में राम>रामा, कृष्ण>कृष्णा, आर्य>आर्या, बुद्ध>बुद्धा, गुप्त>गुप्ता, मिश्र>मिश्रा आदि। उर्दू के प्रभाव के कारण आर्य समाज>आर्यासमाज, प्रचार>परचार, अर्जुन>अरजुन, इन्द्रजित्>इन्दरजीत, सुरेन्द्र>सुरेन्दर या सुरिन्दर आदि।

(5) **अन्य भाषाओं का प्रभाव**— अन्य भाषाओं के प्रभाव के कारण भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन देखा जाता है। फारसी और अरबी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी क . ग . ज आदि ध्वनियाँ फारसी या उर्दू के शब्दों में लिखी और बोली जाती हैं। यह माना जाता है कि भारोपीय भाषाओं में टवर्ग नहीं था। द्रविड़ परिवार की भाषाओं के संपर्क से संस्कृत आदि में टवर्ग ध्वनि आई है। जैसे— प्रकृत>प्रकट, संस्कृत>संकट, विकृत>विकट। अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में ज़ ध्वनि Is- इज़ His-हिज़।

(6) **सादृश्य**— सादृश्य या समानता के आधार पर कुछ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे द्वादश के सादृश्य पर एकादश। द्वि का द्वा होता है, पर एक में आ नहीं आ सकता है। यह सादृश्यमूलक है। दण्डिन्+आ = दण्डिना, करिणा आदि में ना ठीक है, पर अग्निना, वारिणा, शुचिना (तृ. एक.) में 'ना' केवल सादृश्य के आधार पर है। तुभ्यम्>तुझे के सादृश्य पर मह्यम्>मुझे हो गया। मह्यम् में उ नहीं है। पैतालीस के सादृश्य पर सैतालीस में भी अनुनासिकता आई है।

3.3.2 ध्वनि-परिवर्तन के अन्य कारण :

भाषा के स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भाषा के तुल्य ही ध्वनियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ये ध्वनि-परिवर्तन मुख्यरूप से दो प्रकार के हैं—(1) अकारण या अज्ञातकारण (Unconditional या Spontaneous), (2) सकारण, सहेतुक या हैतुक (Conditional)।

(क) अकारण ध्वनि-परिवर्तन (Unconditional Phonetic Changes)

यद्यपि विश्व में अकारण कोई कार्य नहीं होता है, तथापि कुछ ध्वनि परिवर्तनों का कारण ज्ञात न होने से इन्हें अकारण ध्वनि-परिवर्तन की श्रेणी में रखा जाता है। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना से ज्ञात होता है कि मूल भारोपीय भाषा की कुछ स्वर ध्वनियाँ एक रूप में लैटिन और ग्रीक में मिलती हैं तथा दूसरे रूप में संस्कृत तथा अवेस्ता में। जैसे—

(क) संस्कृत एवं अवेस्ता में अ, ग्रीक और लैटिन में e (ए)।

संस्कृत	लैटिन	संस्कृत	लैटिन
भरामि	fero	अहम्	ego
अश्वः	equos	अस्ति	esti

(ख) संस्कृत एवं अवेस्ता में अ, ग्रीक और लैटिन में o (ओ)।

संस्कृत	लैटिन	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
अविः	ovis	अष्टौ	octo	-
कः	quod	ददर्श	-	dedorke

(ग) संस्कृत एवं अवेस्ता में आ, ग्रीक और लैटिन में o (ओ)।

संस्कृत	लैटिन	संस्कृत	लैटिन
ददाति	donum	द्वा	duo

(घ) संस्कृत में अ, ग्रीक और लैटिन में e (ए)। संस्कृत में ऐसे स्थलों पर त् को च् तालव्य नियम से हो जाता है।

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	संस्कृत	ग्रीक
च	-	te	पंच	pente
चित्	quid	ti	-	-

(ख) सकारण ध्वनि-परिवर्तन (Conditional Phonetic Changes)

मुख-सुख, प्रयत्नलाघव, क्षिप्रभाषण, स्वराघात, अज्ञान, भावुकता आदि कारणों से कतिपय शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन होता है। ये ध्वनि परिवर्तन नियम के रूप में अन्य शब्दों पर लागू नहीं होते हैं। ध्वनि परिवर्तन की यह प्रक्रिया प्राचीनकाल से चल रही है और आज भी चालू है। इस ध्वनि परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्राचीन काल से विचार होता रहा है। वर्तमान भाषाशास्त्रियों ने इस विषय पर विस्तृत मनन-चिन्तन किया है।

प्राचीन भाषाशास्त्रियों का मत संस्कृत के प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। निरुक्तकार यास्क मुनि, महाभाष्यकार पतंजलि और काशिकाकार वामन-जयादित्य ने ध्वनि-परिवर्तन की कुछ दिशाओं का उल्लेख किया है-

निरुक्तकार यास्क (ईसापूर्व 8वीं शती) ने आदि-शेष, आदि लोप, अन्तलोप, उपधालोप, उपधा-परिवर्तन, वर्णलोप, द्विवर्णलोप, आदि-विपर्यय, अन्त-विपर्यय, आद्यन्तविपर्यय, अन्तिमवर्ण-परिवर्तन, वर्णोपजन (वर्ण का आगम) आदि वर्ण-परिवर्तन दिशाओं का उल्लेख किया है।

‘प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्यते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति-स्तः, सन्तीति। अथापि अन्तलोपो भवति-गत्वा, गतम् इति। अथापि उपधालोपो भवति जग्मतुः, जग्मुः इति। अथापि उपधा-विकारो भवति-राजा, दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामि इति। अथापि द्विवर्णलोपः-तृच इति। अथापि आदि-विपर्ययो भवति ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्य इति। अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोकाः, रज्जुः, । अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति ओघः, मेघः। अथापि वर्णोपजनः आस्थत् द्वारः, भरूजा इति। (निरुक्त अध्याय 2, पाद 1)

काशिकाकार वामन-जयादित्य (7वीं शती ई.) में निरुक्त की 5 विशेषताएँ बताते हुए 1. वर्णागम, 2. वर्ण-विपर्यय, 3. वर्णविकार, 4. वर्णनाश, 5. धातु का अर्थान्तर से योग, का उल्लेख किया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थतिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।।

(काशिका. 6-3-106)

पतञ्जलि (ईसा पूर्व 2वीं शती) ने महाभाष्य में 1. वर्णव्यत्यय, 2. वर्णनाश, 3. वर्ण-उपजन (वर्णागम) और 4. वर्णविकार, इन चार ध्वनिपरिवर्तनों का सोदाहरण उल्लेख किया है-

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेषु अर्थदर्शनात्।

वर्ण-व्यत्यये-कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः। अपायो लोपः-हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्। उपजन आगमः लविता, लवितुम्। विकार आदेशः (महाभाष्य, नवाहिक, आ. 2, वार्तिक 76

1. वर्ण-व्यत्यय या वर्ण-विपर्यय। जैसे कर्त>तर्क, कसित>सिकता, हिस>सिंह। 2. वर्णलोप। जैसे- हतः में न् लोप, घ्नन्ति में हन् के अ का लोप। 3. वर्णागम। जैसे-लविता में इ का आगम । 4. वर्णविकार। जैसे- हन्>घातक, ह को घ्।

3.4 ध्वनि-नियम (Phonetic Laws)

ध्वनि-नियम का स्वरूप विभिन्न भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन भाषा की परिवर्तनशीलता के कारण होते हैं। कुछ परिवर्तन ऐसे हैं, जिनका क्षेत्र बहुत सीमित है और कुछ का क्षेत्र व्यापक है। इन व्यापक परिवर्तनों को नियम की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। ऐसे ही कतिपय नियमों को ध्वनि-नियम नाम दिया गया है।

इन ध्वनि-नियमों की कुछ विशेषताएँ या सीमाएँ हैं, जिनके अन्तर्गत ये कार्य करते हैं। ये सामान्य नियम नहीं हैं और न सभी भाषाओं पर प्रभावी हैं। किसी विशेष भाषा में, किसी काल-विशेष में ये प्रवृत्त होते हैं। अतएव प्रत्येक नियम के अनेक

अपवाद है। इसको भाषा की ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic tendency) कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति ही जब अपना स्थिर रूप ले लेती है तो उसे नियम नाम दे दिया जाता है।

ध्वनि-नियम और प्राकृतिक नियम-यहाँ यह समझ लेना उचित है कि ध्वनि-नियम प्राकृतिक नियमों के तुल्य अनिवार्य और सार्वत्रिक नहीं हैं। विज्ञान के नियम तात्त्विक और अपरिवर्तनीय हैं, परन्तु भाषा के नियम व्यावहारिक एवं परिवर्तनशील हैं। इनका आधार मानव-समाज है। मानव में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतः इन नियमों में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक मानव की विचार-धारा, भाषण-शैली एवं ध्वनि-यन्त्र में अन्तर होता है, अतः ध्वनि-नियमों में एकरूपता संभव नहीं है। प्रत्येक भाषा में किसी काल-विशेष में कुछ ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन देखे जाते हैं। उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि-नियम कहा जाता है।

ध्वनि-नियम की परिभाषा—किसी भाषा-विशेष में किसी काल-विशेष में कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत हुए विशेष प्रकार के ध्वनि परिवर्तनों को ध्वनि-नियम कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा में चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—

1. ध्वनि-नियम का सम्बन्ध किसी विशेष भाषा से ही होता है।
2. ध्वनि-नियम किसी काल-विशेष से संबद्ध होता है।
3. ऐसे ध्वनि-नियम किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही होते हैं।
4. ध्वनि-नियम कुछ विशेष ध्वनियों को ही प्रभावित करता है।

विशिष्ट ध्वनि-नियम—यहाँ पर कतिपय विशिष्ट ध्वनि-नियमों का ही वर्णन किया जा रहा है। ये हैं—

- (1) ग्रिम-नियम (Grimm's Law)
- (2) ग्रासमान-नियम (Grassmann's Law)
- (3) वर्नर-नियम (Verner's Law)
- (4) तालव्य-नियम (Palatal Law)
- (5) मूर्धन्य-नियम (Cerebral Law)

मूलभाषा-सुसंबद्धाः ग्रिम-ग्रास्मान-वर्नराः।

वर्णानां परिवृत्त्यैव, प्रसिद्धि परमां गताः॥१॥

क-त-पा ह-थ-फाः सन्तु, घध-भाग-द-बास्तथा ।

ग-द-बाः क-त-पाः सन्तु, ग्रिमाख्ये नियमे सति॥२॥

महाप्राण-द्वयी-युक्ताः, द्वचक्षरा मूलधातवः ।

महाप्राणाद्यनाशः स्याद्, ग्रासमान-विधौ स्मृते ॥३॥

पूर्वमुदात्तयोगे तु, ग्रिमाख्यो नियमो भवेत् ।

अन्यथा द्विपदा वृत्तिः, वर्नरे नियमे सति ॥४॥

1. ग्रिम, ग्रासमान और वर्नर नियम मूल भारोपीय भाषा से संबद्ध हैं। इन नियमों में मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन का वर्णन है।

2. ग्रिम-नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा की निम्नलिखित ध्वनियों को अंग्रेजी और जर्मन भाषा में ये ध्वनियाँ हो जाती हैं (प्रथम को द्वितीय), क्रमशः क् त् प् को ख् (ह), थ्, फ्। (चतुर्थ को तृतीय) क्रमशः घ् ध् भ् को ग् द् ब्। (तृतीय को प्रथम) क्रमशः ग् द् व् को क् त् प् ।

3. ग्रासमान-नियम मूल भारोपीय दो अक्षर वाली धातुओं में दो महाप्राण (ह) ध्वनियाँ थीं। सामान्यतया प्रथम महाप्राण (ह) ध्वनि हट जाती है। द्वितीय वर्ण में महाप्राण (ह) ध्वनि हटने पर प्रथम वर्ण में महाप्राण ध्वनि रहती है।

4. वर्नर नियम यह ग्रिम नियम का संशोधन है। यदि मूलभाषा में क् त् प् आदि से पूर्व उदात्त स्वर होगा तो ग्रिम नियमानुसार प्रथम वर्ण परिवर्तन नियम लगेगा। यदि उदात्त स्वर क् त् प् के बाद होगा तो क् त् प् को ग् द् व् होगा, अर्थात् आगे दिये त्रिकोण के अनुसार दो पग आगे का कार्य होगा।

उक्त नियमों का विस्तृत वर्णन आगे दिया जा रहा है-

3.4.0 ग्रिम-नियम (Grimm's Law)

ग्रिम-नियम का संक्षिप्त इतिहास यह ध्वनि-नियम प्रो. जेकोब ग्रिम (Jacob Grimm, 1785-1863) के नाम से प्रसिद्ध है। इस नियम को 'ध्वनि-परिवर्तन' (जर्मन में

Laut-verschiebung, लाउत-ध्वनि, फेशीबुंग-परिवर्तन, अंग्रेजी में Sound-shifting-साउन्ड-ध्वनि, शिफ्टिंग-परिवर्तन) नाम दिया गया था। प्रो. मैक्समूलर (Max-Muller) ने इसे Grimm's Law (ग्रिम-नियम) नाम दिया है। प्रो. ओटो येस्पर्सन (Otto-Jespersen) का कथन है कि इस नियम को Rask's Law रास्क-नियम नाम दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह नियम डैनिश विद्वान् रास्क ने ही सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप में अपनी पुस्तक (Undersogelse) में प्रकाशित किया था। प्रो. ग्रिम ने इसके आधार पर ही इस नियम का विस्तृत वर्णन किया है। प्रो. ग्रिम ने 1822 ई. में अपने जर्मन व्याकरण (Deutsche Grammatik) का द्वितीय संस्करण निकाला था। उसमें इस नियम का विस्तार से वर्णन किया है। इस नियम की ओर पहले संकेत करने के विषय में प्रो. रास्क के अतिरिक्त प्रो. ईरे (Ihre) का भी नाम लिया जाता है।

ग्रिम-नियम दो भागों में विभक्त है-

1. प्रथम वर्ण-परिवर्तन (First sound shifting)- यह वर्ण-परिवर्तन ईसा के जन्म से पूर्व हो चुका था। इसका प्रभाव समान रूप से गाथिक, निम्न जर्मन और अंग्रेजी, डच आदि भाषाओं पर पड़ा है। भारोपीय मूलभाषा की व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अंग्रेजी का उद्भव निम्न जर्मन से है, अतः इसके द्वारा संस्कृत और अंग्रेजी की तुलना से यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। इस वर्ण-परिवर्तन में एक ओर संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, स्लावोनिक भाषाएँ हैं, इनमें मूल ध्वनि सुरक्षित है। दूसरी ओर गाथिक, निम्न जर्मन, अंग्रेजी, डच आदि भाषाएँ हैं, इनमें यह परिवर्तन हुआ है।

2. द्वितीय वर्ण-परिवर्तन (Second sound shifting)-द्वितीय वर्ण-परिवर्तन 7वीं और 8वीं शती ई. में हुआ है। यह वर्ण-परिवर्तन केवल जर्मन भाषा के ही दो रूपों उच्च और निम्न में हुआ है। निम्न जर्मन की प्रतिनिधिभाषा अंग्रेजी है। यह परिवर्तन निम्न जर्मन और अंग्रेजी से उच्च जर्मन में हुआ है। निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ उच्च जर्मन में भिन्न हो गई हैं। प्रथमवर्ण-परिवर्तन में एक पग आगे चलते हैं। द्वितीयवर्ण परिवर्तन में एक पग और आगे चलते हैं।

निम्न जर्मन (Low German) और उच्च जर्मन (High German) के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अन्तर उच्च वर्ग और निम्न वर्ग से, अर्थात् व्यक्तियों

से, नहीं है। जर्मनी का उत्तरी भाग समतल और नीचा है, अतः वहाँ बोली जाने वाली भाषा 'निम्न जर्मन' कही जाती है। निम्न जर्मन और अंग्रेजी में प्रथम वर्ण-परिवर्तन वाली ध्वनियाँ समान हैं। निम्न जर्मन की शाखाएँ हैं अंग्रेजी, डच, डैनिश, नार्वेई, स्वीडिश आदि। जर्मनी में दक्षिणी पहाड़ी भाग में बोली जाने वाली भाषा को 'उच्च जर्मन' कहते हैं, क्योंकि यह ऊँचे पर्वतीय भाग में बोली जाती है।

वर्ण-परिवर्तन को इस प्रकार रखा जा सकता है—मूल भारोपीय भाषा>संस्कृत, ग्रीक, लैटिन निम्न जर्मन, अंग्रेजी>उच्च जर्मन। संस्कृत के वर्ग के चतुर्थ वर्ण घ ध भ ग्रीक और लैटिन में द्वितीय वर्ण अर्थात् ख थ फ हो जाते हैं।

सं., लै., ग्री.	क् ख् (घ्) ग्	त् थ् (ध्) द्	प् फ् (भ्) व्
अं., नि. ज.	ह् ग्	क् थ् द्	त् फ् ब् प्
उ. ज.	ग् क्	ख् द् त् त्स, स्स	ब्, व् प् फ्, प्फ्
	संस्कृत	अंग्रेजी	उच्च जर्मन

1. प्रथमवर्ण > 2. द्वितीयवर्ण > 3. तृतीयवर्ण
2. द्वितीय > 3. तृतीय > 1. प्रथम
3. तृतीय > 1. प्रथम 2. द्वितीय
4. चतुर्थ > 3. तृतीय > 1. प्रथम

इस प्रकार प्रथमवर्ण-परिवर्तन में संस्कृत के प्रथम वर्ण को अंग्रेजी में द्वितीय वर्ण, और चौथे को तृतीय तथा तृतीय को प्रथम वर्ण हो जाता है।

प्रथम ध्वनि-परिवर्तन के लिए ग्रीक और लैटिन को छोड़कर मूल भारोपीय भाषा की प्रतिनिधि संस्कृत को लेने पर तथा निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेजी को लेने पर यह नियम स्पष्ट होता है और इसकी उपयोगिता ज्ञात होती है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन	संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ
1. क् > ह h, wh	कः	who	कौन
	कद् (वैदिक)	what	क्या

2. त् > थ् th	त्रि	three	तीन
	तनु	thin	पतला
	तृण	thorn	काँटा
3. प् > फ् f	पितर्	father	पिता
	पाद	foot	पैर
4. घ् (ह) > ग् g	हंस (घंस)	Goose	हंस
	दुहितर् (दुधितर्)	Daughter	पुत्री
5. ध् > द् d	विधवा	widow	विधवा
6. भ् > ब् b	भ्रातर्	Brother	भाई
	भू	Be	होना
	भर् (भृ)	Bear	धारण करना
7. ग् > क् k	गो	Cow	गाय
	युग	Yoke	जुआ
8. द् > त् t	दशन्	Ten	दस
	द्वौ	Two	दो
	अद्	Eat	खाना
9. ब् > प् p	लब (फारसी)	Lip	ओठ
		Kannabis (ग्रीक)	Hemp भाँग
	(संस्कृत का उदाहरण नहीं मिलता है।)		

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में त्रिकोण के अनुसार एक पग और आगे बढ़ते हैं। निम्न जर्मन और अंग्रेजी के शब्द उच्च जर्मन में निम्नलिखित रूप में परिवर्तित हो जाते हैं-

अं.	उच्च जर्मन	अं.	उ. ज.	अं.	उ.ज.
d	ch, ख	h	g ग्	g	ck, क्

t	s,ss,z (त्स)	th	d, द्	d	t, त्
p	pf (प्फ)	f,v	b, ब्	b	p प्
ध्वनि-परिवर्तन	अंग्रेजी	जर्मन	अर्थ		
1. k-ch, ख्	Book	Buch, बुख	पुस्तक		
	Cook	coch, कोख	रसोइया		
2. t-s, ss, स्	Out	ous, आउस	बाहर		
z, त्स	Foot	fuss, फुस्स	पैर		
	Ten	zehn, त्सेन	दस		
3. p-f, pf, प्फ	Up	Auf, आउफ	ऊपर		
ff, प्फ	Apple	Apfel, आप्फेल	सेव		
	open	offen, ओप्फेन	खोलना		
4- h-g, ग्	Hostis (लै.)	Gast, गास्ट	अतिथि		
5. th-d, द्	Three	Drei, द्राई	तीन		
	Thick	Dick, डिक	मोटा		
6. v-fb, ब्	Wife	Weib, वाइब	पत्नी		
	Give	Geben, गेबेन	देना		
7.g-ck, क्	Bridge	Brucke, ब्र्यूक	पुल		
8. d-t, त्	God	Gott, गोट्ट	ईश्वर		
	Do	Tun, तुन	करना		
9. b-p, प्	Double	Doppel, डोप्पेल	दुगुना		

ग्रिम-नियम के अपवाद- प्रो. ग्रिम ने इस ध्वनि-परिवर्तन के कुछ अपवादों का उल्लेख किया है उनमें मुख्य ये हैं-

1. क्, त् प् से पूर्व स् (S) संयुक्त होने पर-sk, st, sp.
2. त् से पूर्व क् या प् संयुक्त होने पर- kt, pt.

ऐसे संयुक्त व्यंजन वाले स्थलों पर ध्वनि-परिवर्तन नहीं होता है। जैसे-

ध्वनि	लैटिन	गाथिक	अर्थ
Sk, स्क	Piscis, पिस्किस	Fisks, फिस्कस	मछली
St, स्त	Est, एस्ट	Ist, इस्ट	है
Sp, स्प	Spicio, स्पिसिओ	Spehon, स्पेहोन (उ.ज.)	
Kt, क्त	Octo, ओक्टो	Acht, आख्ट (उ.ज.)	आठ
Pt, प्त	Captus, काप्टुस	Hafts, हाफ्ट्स	रोका

जर्मनिक या ट्यूटानिक (जर्मनभाषा-परिवार) की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इससे ही उच्च जर्मन, निम्न जर्मन, अंग्रेजी आदि निकली है।

3.4.1 ग्रासमान नियम (Grassmann's Law)

हेर्मान ग्रासमान (Hermann Grassmann, 1809-1877) भी जर्मन विद्वान् है। इन्होंने ग्रिम-नियम को संशोधित किया है और उसकी त्रुटियों का निराकरण किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में ग्रिम-नियम के अनुसार ब् को प् और द् को त् होना चाहिए था, परन्तु गाथिक में भी ब् और द् ही मिलते हैं-

संस्कृत	गाथिक
बोधति	Biudan, बिउदान
दभ्	Daubs, दाउब्स

प्रो. ग्रासमान ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं की परीक्षा करने पर यह पता लगाया कि-

संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में दो अव्यवहित सोष्म ध्वनियों में से सामान्यतया प्रथम ऊष्म ध्वनि (ह् ध्वनि) निकल जाती है। जहाँ पर द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि निकलती है, वहाँ पर प्रथम वर्ण में ऊष्म ध्वनि आ जाती है।

इस आधार पर यह कल्पना की गई कि मूल भारोपीय भाषा में दो अक्षरों वाली ऐसी धातुओं में दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं, उनमें से साधारणतया प्रथम ऊष्म ध्वनि (ह्

ध्वनि) निकल जाती थी और द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि निकलने पर वह प्रथम वर्ण में पुनः आ जाती थी।

इस कल्पना का आधार प्रायः इस प्रकार था-

1. धा > धधामि > दधामि, पहले ध् को द्, ह् ध्वनि हटी।
2. भृ > भभार > बभार, पहले भ् को ब्, ह् ध्वनि हटी।
3. बुध् > भुत्, बुधौ, भुत्सु। बुधौ में पहले वर्ण से ऊष्म ध्वनि हटी है। भुत्, भुत्सु में द्वितीय वर्ण से ऊष्म ध्वनि हटी है, अतः ब् > भ् हो गया। अतः मूल धातु 'भुध' (Bhudh) है।

4. दुह (मूल धातु, धुध्) धुक्, दुहौ, धुग्भ्याम्, धुक्षु।

इस प्रकार बुध् > भुध् और दभ् धभ् धातु है। मूल 'भुध्' और 'धभ्' धातु मानने पर भुध् से संस्कृत में बुध् धातु हुई और ग्रिम नियमानुसार भ् > ब् होने से Biudan बना। इसीप्रकार मूल धातु 'धभ्' > दभ् और गाथिक में ध् > द् Daubs बना। ग्रीक भाषा में भी प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

3.4.2 वर्नर-नियम (Verner's Law)

कार्ल वर्नर (Karl Verner, 1846-1896) भी जर्मन भाषाशास्त्री है। इन्होंने भी ग्रिम-नियम का संशोधन किया है। ग्रिम-नियम के जो अपवाद रह गए थे, उनके विषय में वर्नर ने ज्ञात किया कि ग्रिस-नियम का आधार Accent (उदात्त स्वर) था।

वर्नर नियम का स्वरूप-मूल भारोपीय भाषा के शब्दों के क्, त्, प् (k, t, p) को जर्मनिक भाषाओं में ह्, थ्, फ् (h, th, f) तभी होता है, जब मूल भाषा में अव्यवहित पूर्व कोई उदात्त स्वर (Accent) होता है। यदि उदात्त स्वर क्, त्, प् के बाद होगा तो इनके स्थान पर क्रमशः ग्, द्, ब् होते हैं।

उदात्त का चिह्न (') द्वारा दिया गया है-

संस्कृत	लैटिन	गाथिक	अंग्रेजी	ध्वनि-परिवर्तन
युवक'स	Juven'cus	Jugg's	Young	क् > ग्
शत'म्	Cent'um	Hund	Hundred	त् > द्
सप्त'न्	Sept'em	Sibun	Seven	प् > ब्

इनमें क्, त्, प् के बाद उदात्त स्वर है, अतः इन्हें ह्, थ्, फ् न होकर ग्, द्, ब् हुए हैं। भ्रा'तर में त् से पहले उदात्त है, अतः गाथिक और अंग्रेजी में Brother में (t>th) त् को थ् मिलता है। ब्रॉथर को ही ब्रदर बोला जाता है।

वर्नर नियम के भी कुछ अपवाद मिलते हैं, जो इसप्रकार हैं-

मिथ्या सादृश्य- इसका समाधान मिथ्या-सादृश्य (Analogy) के द्वारा किया जाता है। भ्रा'तर > Brother होता है। इसके सादृश्य पर ही अंग्रेजी में पित'र् > Father और मात'र् > Mother बनते हैं। इनमें वर्नर के नियमानुसार त् > द् (t > d) होना चाहिए था, पर हुआ है त् > थ् (t > th)। इसका कारण मिथ्या सादृश्य ही समझना चाहिए।

3.4.3 तालव्य-नियम (Palatal Law)

तालव्य-नियम को पता लगाने का श्रेय मुख्यरूप से विल्हेल्म थॉमसन (Wilhelm Thomsen), जोहन्स शिम्ट (Johannes Schmidt) और कालित्स (H. Collitze) को है। सास्यूर (De Saussure) का भी नाम इस विषय में लिया जाता है। प्रायः एक ही समय में इन्होंने इस नियम की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। कुछ लोग इसका श्रेय कालित्स को देकर इसे 'कालित्स-नियम' भी कहते हैं।

तालव्य नियम का महत्त्व- सामान्यतया यह विश्वास किया जाता था कि मूल भारोपीय भाषा की स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत में सबसे अधिक सुन्दर रूप में सुरक्षित हैं। परन्तु संस्कृत, लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तुलना से भाषाशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल भारोपीय भाषा की व्यंजन ध्वनियाँ संस्कृत में अधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं तथा मूल स्वर-ध्वनियाँ ग्रीक और लैटिन में। इस निष्कर्ष का कारण यह था कि ग्रीक और लैटिन में जिन स्थानों पर द्वस्व a, e, o, तीन पृथक् स्वर ध्वनियाँ मिलती हैं वहाँ पर संस्कृत में केवल अ ध्वनि मिलती है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि जहाँ पर ग्रीक और लैटिन में द्वस्व a और o ध्वनि है, वहाँ पर संस्कृत में अ ध्वनि होने पर कोई वर्ण परिवर्तन नहीं होता है। यदि द्वस्व e के स्थान पर 'अ' ध्वनि हुई है तो वहाँ पर क्>च् और ग्>ज् पाते हैं। मूल भाषा के द्वस्व e के स्थान पर अ होने पर कण्ठ्य ध्वनि क्, ग् के स्थान पर तालव्य च्, ज् होने को

तालव्य-नियम कहा जाता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत की 'अ' ध्वनि मूल भारोपीय भाषा के a, e, o, इन तीन ध्वनियों के स्थान पर मिलती है।

ध्वनि	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
a को अ	अनिति	Animus	Anemos
e को अ	अहम्	Ego	Ego
e को अ	भरामि	Fero	Fero
e को अ	ददर्श	-	Dedorka
o को अ	अष्टौ	Octo	Octo
o को अ	अस्थि	Os	Osteon

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत का अ = ग्रीक और लैटिन का a, e, o, संस्कृत के 'अ' से a, e, o, इन तीन ध्वनियों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है, अतः मूल भारोपीय स्वरों के लिए लैटिन और ग्रीक को प्रामाणिक माना जाता है।

तालव्य-नियम में मूल भारोपीय भाषा में कवर्ग की तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं¹

1. शुद्ध कण्ठ्य
2. कण्ठोष्ठ्य
3. कण्ठतालव्य

क् ख् ग् घ् क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व् क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य्

इनमें से कण्ठोष्ठ्य कवर्ग ग्रीक लैटिन आदि में क्व् (क् के साथ व् श्रुति भी) आदि के तुल्य हो गया। कण्ठतालव्य कवर्ग ग्रीक लैटिन आदि में कवर्ग रहा (Centum केन्द्रम्) और संस्कृत-अवेस्ता आदि पूर्वीय भाषाओं में स् या श् (सतम् शतम्, सतम् वर्ग) हो गया। शुद्ध कण्ठ्य (क् ख् ग् घ्) और कण्ठोष्ठ्य (क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्) ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा में कहीं पर कवर्ग के रूप में प्राप्त होती हैं और कहीं पर चवर्ग के रूप में। जहाँ पर चवर्ग के रूप में परिवर्तित हुई हैं, वहाँ पर कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के बाद मूल भारोपीय भाषा में e या i (इ, ई, ए,) तालव्य ध्वनियाँ मिलती हैं। जहाँ पर ये तालव्य ध्वनियाँ बाद में नहीं होती हैं, वहाँ पर संस्कृत अवेस्ता आदि में कवर्ग-ध्वनि ही मिलती है।

मूल भारोपीय भाषा के शुद्ध कण्ठ्य और कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों के बाद यदि कोई तालव्य स्वर (इ, ई ए, e, i) आता है तो कण्ठ्य ध्वनि को तालव्य ध्वनि (क् > च्) ध्वनि बनी रहती है। जैसे-

ध्वनि-परिवर्तन	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	अर्थ
क् > च्	च	Que	Te	और
क् > च्	पंच	Quinque	Pente	पांच
क् > च्	चिद्	Quid	Ti	अनिश्चयार्थ
ग् > ज्	जनस्	-	Genos	मनुष्य
	जानु	Genu	Gonu	घुटना

अन्यत्र ध्वनि-परिवर्तन नहीं होता। जैसे-

क् > क्	कतरः	Quod	Poteros	कोई एक
	कर्कः	Cancer	Karkinos	केकड़ा
ग् > ग्	युगम्	Jugum	Zugon	जुआ

तालव्य-नियम के प्रभाव से ही संस्कृत में गम् > जगाम, कृ > चकार, हन् > जघान आदि में अभ्यास (द्वित्व का पूर्व अंश) में च् ज् आदि तालव्य ध्वनि मिलती है। ग्रीक, लैटिन आदि में अभ्यास में e स्वर मिलता है। जैसे-ग्रीक Dedorka (सं. ददर्श), Gegona (सं. जजान), लैटिन-Tetigi (सं. तस्थौ)। तालव्य-नियम के प्रभाव से ही Queen > सं. जनि (स्त्री) हुआ है। संस्कृत में भी कवर्गीय ध्वनियों के दो रूप मिलते हैं- पचति-पाकः, ओजस् > उग्रः, रंजन-रङ्गः, रागः, यज्ञ-यागः, शोचते-शोकः।

3.4.4 मूर्धन्य-नियम (Cerebral Law)

संस्कृत में मूर्धन्य नियम का संकेत पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। र् और ष् के बाद न् को ण होता है और इ, ए, ओ आदि स्वर तथा क् आदि व्यंजनों के बाद स् को ष् होता है। जैसे-उत्तीर्ण, विष्णु, रामेषु, वाक्षु। न् को ण् और स् > ष् होना मूर्धन्यीकरण है।

इसको आधार मानकर प्रो. पॉट (Pott) और रूसी विद्वान् प्रो. फोर्तुनातोव (Fortunatov) ने संस्कृत भाषा में मूर्धन्य ध्वनियों के विकास का इतिहास ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। इस नियम की सूक्ष्मताओं का अध्ययन करने के कारण प्रो. फोर्तुनातोव के नाम से यह मूर्धन्य नियम प्रचलित हुआ। इस नियम के अध्ययन का कारण यह है कि भारोपीय भाषाओं में किसी भी भाषा में, यहाँ तक कि अवेस्ता में भी, मूर्धन्य ध्वनियाँ ट, उ आदि नहीं मिलती हैं। परन्तु संस्कृत में इनका प्रयोग बहुत प्रचलित है। अधिकांश विद्वानों ने संस्कृत टवर्ग के लिए द्रविड़ भाषाओं का संपर्क कारण माना है।

मूर्धन्य-नियम का स्वरूप यह है (1) यदि मूलभाषा में र् या ल् के बाद तवर्ग होगा तो उसे टवर्ग हो जाता है। (2) यदि मूलभाषा में ऋ है और यदि वह हटता है या परिवर्तित होकर अ आदि होता है, तो परवर्ती तवर्ग को टवर्ग हो जाता है। जैसे-

मूल रूप	संस्कृत रूप	मूल रूप	संस्कृत रूप
कृत	कट (चटाई)	अवर् (वैदिक)	अवट (गड्ढा)
विकृत	विकट	ऋध् (बढ़ना)	आद्य (धनी)
संकृत	संकट	पृथति (वै. बताना)	पठति

फोर्तुनातोव ने यह नियम दिया-1. मूलभाषा के ल् के बाद तवर्ग को टवर्ग होता है और ल् का लोप होता है। 2. मूल भाषा के र् या ऋ के बाद तवर्ग को टवर्ग नहीं होता।

मूल रूप	संस्कृत रूप	मूल रूप	संस्कृत रूप
ग्रीक-प्लतुम्	पटु	लैटिन- Verto(वर्तो)	वर्तामि (हूँ)
लैटिन-Palm (पाम)	पाणि	गाथिक-Gredus	गर्धः (लोभी)
लैटिन-Culter (कल्टर)	कुठार	लिथु.-Ardyti	अर्धः (आधा)

इस नियम के अपवादों की संख्या अधिक होने के कारण प्रो. वाकरनागल (Wackernagel), ब्रुगमान (Brugmann) और बार्थोलोमे (Bartholome) ने फोर्तुनातोव के नियम को अस्वीकृत किया है। र् या ऋ के बाद तवर्ग को टवर्ग मिलता है। जैसे- भृत>भट, नृत्>नट, कृत>कट। इस प्रकार मूर्धन्य नियम कुछ अंशों में ही ग्राह्य है।

3.4.5 अन्य ध्वनि नियम

उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त कुछ सामान्य ध्वनि-नियम हैं। इसका यहाँ सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

(क) अवेस्ता-नियम-अवेस्ता में संस्कृत की इन ध्वनियों के स्थान पर ये ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। स्>ह, घ् ध् भ् को ग्, द् ब्, क्, त्, प्, को ख्, थ्, फ् तथा स्वरागम।

ध्वनि	संस्कृत	अवेस्ता	ध्वनि	संस्कृत	अवेस्ता
स्>ह	भरसि	बरहि	क्>ख्	क्रतुः	.खतुस्
	असुर	अहुर	त्>थ्	सत्य	हइथ्यो
भ्>ब्	भवति	बवइति	प्>फ्	प्रोक्तः	फ्राओख्तो
	भरन्ति	बरइन्ति	स्वरागम	एति	एइति

(ख) ग्रीक-नियम-मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में ग्रीक में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे (1) दो स्वरों के मध्य स् को ह् होकर उसका लोप, (2) वर्ग के चतुर्थ वर्ण को द्वितीय वर्ण, अर्थात् भ्>फ्, ध्>थ् आदि।

मूल रूप	संस्कृत	ग्रीक	मूल रूप	संस्कृत	ग्रीक
Generos		Geneos	भ् > फ्	भ्रातर्	Frater
भ् > फ्	भरमि	Fero	भ् > ब्	मधु	Methu मेधु
भ् > फ्	नभग्	Nefos	ज > ग्	जानु	Gonu गोनु

(ग) लैटिन-नियम- मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों में लैटिन में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे-(1) दो स्वरों के बीच स् को र्, (2) वर्ग के चतुर्थ वर्ण को द्वितीय वर्ण या तृतीय वर्ण अर्थात् भ्>फ् या ब्, ध्>थ् या द् आदि।

मूल रूप	संस्कृत	ग्रीक	मूल रूप	संस्कृत	ग्रीक
Generos		Geneos	भ् > ब्	नभस्	Nebul
भ् > फ्	भरति	Fero	भ् > ब्	तुभ्यम्	Tibi
भ् > फ्	भवति	Faum	ध् > फ्	धूमः	Fumus

(घ) प्राकृत-नियम-संस्कृत की अनेक ध्वनियों का प्राकृत भाषा में परिवर्तन हो जाता है। जैसे- (1) शब्दों के मध्यगत क् त् प् को ग् द् ब् होते हैं। (2) ख् घ् थ् ध् फ् भ् को ह् होता है। (3) ट् ठ् को ड् ढ् (4) प् को व् आदि।

ध्वनि	संस्कृत	प्राकृत	ध्वनि	संस्कृत	प्राकृत
त् > द्	अतिथि	अदिधि	ट् > ड्	कुटुम्ब	कुडुम्ब
त् > द्	आगतः	आगदो	ठ् > ढ्	पठन	पढण
ख् > ह्	मुख	मुह	प् > व्	दीपाली	दिवाली
प् > ह्	मेघ	मेह	श् > स्	अशेष	असेस
ध् > ह्	वधू	बहू	ष् > ह्	पाषाण	पाहाण

(ङ) फारसी-नियम-फारसी में संस्कृत की कुछ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे (1) स् को ह् (2) ज् को ज्।

ध्वनि	संस्कृत	प्राकृत	ध्वनि	संस्कृत	प्राकृत
स् > ह्	सिन्धु	हिन्द	ज् > ज्	जानु	जानू
स् > ह्	सप्त	हप्त	ज् > ज्	जातः	जादह
स् > ह्	सम (सब)	हम	भ् > ब्	नास्तिनाभूत्	नेस्तनाबूद

इसीप्रकार ओष्ठ्य नियम आदि कुछ सामान्य नियम हैं, जो विशेष महत्वपूर्ण न होने से नहीं दिए जा रहे हैं।

3.5 पदविज्ञान (रूपविज्ञान) (Morphology)

प्रकृति-प्रत्ययैमिश्र, सार्थक-ध्वनि-संगतम्।

रूप-निर्माण-संबद्धं, पद-विज्ञानमिष्यते।।1।।

भाषाविशेष-संबद्धो लघिष्ठः सार्थको ध्वनिः ।

बद्ध-मुक्त-गुणैर्युक्तो रूपिमः कथितो बुधैः।।2।।

3.5.0 पद और वाक्य :

भाषा की सार्थक इकाई वाक्य है। यह वाक्य भी भाषा का एक अवयव मात्र होता है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से इसे ही इकाई मानकर कार्य किया जाता है।

वाक्य में पद और पदों में वर्ण होते हैं। विचार करने से ज्ञात होता है कि पदों के प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं होता है। जैसे- रामः के र् आ म् अः का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं है, इसीप्रकार वाक्य में प्रयोग के बिना पदों (रामः आदि) का भी कुछ अर्थ नहीं है। कोषग्रन्थों में दिए गये शब्द, तब तक सार्थक नहीं होते, जब तक उनका किसी वाक्य में प्रयोग नहीं होता है। केवल 'राम' या 'पुस्तक' कहने से कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। रामः पुस्तकं पठति, राम पुस्तक पढ़ता है, यह वाक्य है। वाक्य में प्रयोग के कारण रामः, पुस्तकम् और पठति सार्थक होते हैं। इसीलिए वाक्य को ही सार्थक इकाई माना जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में यह भाव स्पष्ट रूप से दिया है-

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव ।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। (वाक्यपदीय, 1-73)

महाभाष्यकार पतंजलि का भी मत है कि वास्तविक सत्ता वाक्य की है, पदों की नहीं। पद-विभाजन जन-साधारण को समझाने का एक उपाय है।¹ वाक्यों से पदों को निकालकर समझाया जाता है कि यह कर्ता है, यह कर्म है, यह क्रिया है, इत्यादि। भर्तृहरि ने इस विश्लेषण की प्रक्रिया को पारिभाषिक नाम 'अपोद्धार' (विश्लेषण) दिया है। अपोद्धार से ही वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ बताया जाता है और प्रत्येक पद में प्रकृति-प्रत्यय का बोध कराया जाता है।

3.5.1 पद और शब्द :

पद या रूप (Form) और शब्द (Word) को सामान्यतया एकार्थक समझा जाता है, परन्तु यह भूल है। सार्थक मूलरूप को 'शब्द' कहते हैं। इसे संस्कृत में 'प्रातिपदिक' या 'प्रकृति' कहा जाता है। कोशग्रन्थों में ये सार्थक शब्द या प्रातिपदिक मिलते हैं। इनके द्वारा वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का बोध कराया जाता है।

शब्द के भेद- शब्द प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बना है या नहीं, इस आधार पर संस्कृत और हिन्दी में शब्दों के तीन भेद किए गये हैं (1) **रूढ**, -जिनमें प्रकृति और प्रत्यय को स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता है। जैसे- मणि, रत्न, नूपुर, आढ्य, स्थूल आदि। (2) **यौगिक**-जो प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से बने हैं,

जैसे- कृ+तृ=कर्तृ, कर्ता, कृ+अक=कारक। भूत+ इक=भौतिक। धनवान्, बलवान्, श्रीमान् आदि। (3) योगरूढ जो शब्द यौगिक होते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं, उन्हें योगरूढ कहते हैं, जैसे- सरसिज, पंकज आदि। तालाब या कीचड़ में उत्पन्न होने वाला, यह यौगिक अर्थ है, परन्तु ये शब्द कमल के अर्थ में रूढ हैं। रूढ शब्दों को 'अव्युत्पन्न प्रातिपदिक' और यौगिक शब्दों को 'व्युत्पन्न प्रातिपदिक' कहते हैं। पाणिनि ने रूढ शब्दों के अतिरिक्त यौगिक शब्दों को भी प्रातिपादिक मानने के लिए नियम दिया है-

कृत्-तद्धित-समासाश्च। (अष्टा., 1/2/46)

कृत-प्रत्ययान्त, तद्धित-प्रत्ययान्त और समासयुक्त पद भी प्रतिपादिक होते हैं, अतः इनसे भी सुप् प्रत्यय होंगे। इस प्रकार सभी सार्थक शब्दों को प्रातिपादिक कहा जाएगा।

पद और शब्द में अन्तर :

सामान्यतया पद और शब्द को एकार्थक समझा जाता है, परन्तु भाषा-विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से ये दोनों शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं।

सार्थक ध्वनि-समूह को 'शब्द' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'प्रातिपदिक' कहते हैं। इसे मूलरूप समझना चाहिए। कोई भी शब्द जबतक पद नहीं बन जाएगा, उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। पद बनाने के लिए शब्द में कुछ विशेष अर्थों के बोधक प्रत्यय लगाए जाते हैं। इनके लगाने पर वह शब्द प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए संस्कृत में नियम है-

न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः।' 'अपदं न प्रयुंजीत'।

(महाभाष्य)

अर्थात् न केवल प्रकृति (मूलशब्द, धातु) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का। अपद (शब्द को पद बनाए बिना) का प्रयोग न करे। इसप्रकार इसका अन्तर यह होता है-

शब्द

पद

मूल शब्द (प्रकृति, धातु, प्रातिपदिक)

प्रकृति+प्रत्यय = पद

प्रकृति से दो प्रकार के प्रत्यय होकर रूप बनते हैं-

1. **सुबन्त**- सभी संज्ञा और विशेषण शब्दों से सुप् प्रत्यय लगते हैं। प्रकृति या प्रातिपदिक+सुप् प्रत्यय। जैसे- राम+सु (स्) रामः। उपसर्ग और अव्ययों के बाद भी सुप् लगते हैं, परन्तु उनका लोप हो जाता है।

2. **तिङन्त**-धातुओं से तिङ् प्रत्यय (ति, तः, अन्ति आदि) लगते हैं। 'धातुतिङ् प्रत्यय तिङन्त।' जैसे- पठति = पठ्+अ+ति (वह पढ़ता है)। तिङ्प्रत्यय लगने पर ही धातुओं का प्रयोग हो सकता है। संस्कृत में राम गम् (राम जाना) का प्रयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि इनमें पद बनाने वाले प्रत्यय सुप् और तिङ् नहीं लगे हैं।

सुप् और तिङ्-(1) शब्दों के अन्त में लगने वाले कारक चिह्नों (case endings) सु, औ, जस् (:, औ, अः आदि) को सुप् कहते हैं। ये कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों तथा वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) को बताते हैं।

(2) धातुओं के अन्त में लगने वाले काल (Tense) और वृत्ति (Mood) के बोधक तिः, तः, अन्ति आदि (Terminations) को तिङ् कहते हैं। इनसे काल, वृत्ति, वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाववाच्य) और वचन आदि का बोध कराया जाता है।

हिन्दी में सुप् के स्थान पर स्वतन्त्र कारक चिह्न (ने, को, से, का, पर आदि) लगाए जाते हैं। क्रिया या धातु में कालवाचक चिह्न (ता, ते, है, हूँ, गा, गे आदि) लगाये जाते हैं। 'राम जाना' का प्रयोग न होकर प्रयोग होगा- 'राम जाता है, राम गया, राम जाएगा आदि।' कृत और तद्धित प्रत्यय सुप् और तिङ् के साथ ही कृत और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान भी आवश्यक है।

(1) **कृत प्रत्यय (Primary suffixes)**- धातु+कृत प्रत्यय = कृदन्त शब्द। ये धातु के अन्त में जुड़ते हैं। इनके लगाने से धातु संज्ञा शब्द बन जाते हैं और उनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। कृ+तृ, कर्तृ= कर्ता (करनेवाला), कृ+तव्य=कर्तव्य, कृ+अक=कारक, रम्+घञ् (अ)= राम, दिव्+घञ् (अ) देव। इनसे पहले उपसर्ग भी लग जाते हैं, जैसे-ह+घञ् (अ)=हार, विहार, संहार, आहार, प्रहार आदि।

(2) **तद्धित प्रत्यय (Secondary Suffixes)**- सभी संज्ञा शब्दों (कृत प्रत्यय आदि लगाकर बने हुए शब्दों) से विभिन्न अर्थों में तद्धित प्रत्यय होते हैं। ये भी संज्ञा शब्द

होते हैं। इनसे सुप् प्रत्यय होते हैं। ये पुत्र, उत्पन्न होना, संबद्ध, भाव आदि अर्थों को बताते हैं। जैसे- दशरथ=दाशरथि (दशरथ का पुत्र), देव+इक=दैविक (देव-सम्बन्धी), वाराणस+एय=वाराणसेय (वाराणसी में होने वाला), मृदुता-मृदुता (मृदुत्व) आदि।

कृत् और तद्धित प्रत्ययों से बने हुए अधिकांश शब्दों का प्रयोग संज्ञा शब्दों के तुल्य होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विश्व की अनेक भाषाओं में शब्द और पद में अन्तर नहीं है, जैसे एकाक्षर या अयोगात्मक चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द स्वतंत्र है।

उसमें वचन और कारक आदि के चिह्न स्वतन्त्र शब्द होते हैं, जैसे वो (मैं), नि (तू), था (वह)। मेन (बहुवचन चिह्न), ति (सम्बन्ध कारक का, की)। वो ति (मेरा), वो मेन (हम), वो ति (मेरा), वो मेन ति (हमारा) आदि। सेमेटिक (अरबी आदि) भाषाओं में प्रत्यय या सम्बन्धतत्त्व शब्द के अन्दर लग जाते हैं। क् त् ब् (पढ़ना)>किताब (पढ़ी जानेवाली, पुस्तक)।

3.5.2 पद और सम्बन्धतत्त्व :

प्रत्येक वाक्य में दो प्रकार के विशिष्ट तत्त्व होते हैं-

(1) भावों के प्रतिरूप एवं विषयानुभूति के तत्त्व, (2) इन भावों के परस्पर विशेष सम्बन्ध के संकेतक तत्त्व। जैसे- गुरु ने शिष्य से प्रश्न पूछा। इसमें गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना ये चार शब्द भाव-विशेष के बोधक हैं। इस प्रकार के भाव-विशेष-बोधक तत्त्वों को अर्थतत्त्व (Semanteme, सीमेन्टीम) कहते हैं। दूसरे तत्त्व हैं- ने, से, भूतकाल का चिह्न आ। ये सम्बन्धबोधक तत्त्व हैं। इनको सम्बन्धतत्त्व (Morpheme, मॉर्फ़ीम) कहते हैं।

अर्थतत्त्व (Semanteme) और सम्बन्धतत्त्व (Morpheme, रूपिम)-अर्थतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो मानसिक प्रतिमाओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। जैसे- पूर्वोक्त उदाहरण में गुरु, शिष्य, प्रश्न, पूछना। सम्बन्धतत्त्व उन तत्त्वों को कहते हैं, जो उक्त प्रकार से व्यक्त भावों में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते हैं, जैसे ने, से, आ आदि। केवल अर्थतत्त्व पूरे भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते, अतः सम्बन्ध तत्त्वों की आवश्यकता होती है। 'ने' लगाने से ज्ञात होता है कि गुरु कर्ता है, 'से'

लगाने से ज्ञात होता है कि शिष्य कर्म है, पूछना>पूछा (आ) से ज्ञात होता है कि भूतकाल की क्रिया है। इसीप्रकार संस्कृत का वाक्य ले सकते हैं- वृक्षात् पुष्पं आनय। अर्थतत्त्व है- वृक्ष, पुष्प, आ+नी। सम्बन्धतत्त्व है- आत्, अम्, लोट् म. प्र.पु। त्वं पठसि, त्वं पठ, त्वं पठिष्यसि में अर्थभेद का कारण सम्बन्धतत्त्व है। हिन्दी- राम पढ़ता है, राम ने पढ़ा, राम पढ़ेगा। अर्थतत्त्व राम, पढ़ है। अर्थभेद सम्बन्धतत्त्व के द्वारा है। इसीप्रकार फ्रेंच में क्वद (दों-देना) क्रिया है। सम्बन्धतत्त्व के भेद से अर्थभेद होते जाते हैं, जैसे-Je donne (ज दोन-मैं देता हूँ), Tu donnais (त्यू दोनै-तूने दिया), La donation (ला दोनास्यो-दान)।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि सम्बन्धतत्त्व दो प्रकार के हैं- (1) अर्थतत्त्व से पृथक् सत्ता रखने वाले। जैसे- ने, से आदि, (2) अर्थतत्त्व में समन्वित होकर एकरूप हो जाने वाले। जैसे-आत्, अम्, इष्यसि, आ आदि। इसीप्रकार सम्बन्धतत्त्वों के कुछ अन्य भेद हैं। उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सम्बन्धतत्त्व (Morpheme) के प्रकार :

विश्व की समस्त भाषाओं के विश्लेषण से सम्बन्धतत्त्वों के कुछ प्रकार विशेष रूप से दृष्टिगोचर हुए हैं, वे हैं-

(1) शून्य तत्त्व (Zero Modification, Zero alternant)-इसी को Zero Element, Zero Inflection भी कहते हैं। पाणिनि ने पद बनाने के लिए सभी शब्दों से, चाहे वे उपसर्ग, निपात, अव्यय कुछ भी हों, सुप् का विधान करके अव्यय शब्दों (स्वः, च, वा, प्र, परा आदि) के बाद सुप् का लोप बताया है। (अव्ययादाप्सुपः, अष्टा. 2-4-82)। इस प्रकार अव्ययों में सम्बन्धतत्त्व शून्य (0) रूप में रहता है। यह शून्य तत्त्व भाषाशास्त्र के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके लिए सभी पाश्चत्य भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि आदि भारतीय वैयाकरणों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है।

शून्य तत्त्व का अभिप्राय है कि शब्द या धातु अपने मूलरूप में रहते हुए व्याकरण के सम्बन्धों को बताते हैं, जैसे- बालिका, वारि, मधु, सरित्, जगत् आदि। ये प्रथमा एक वचन के रूप हैं। कर्ता अर्थ बताते हैं, अन्त में कारक चिह्न स् आदि नहीं है, अतः इसे शून्य तत्त्व कहते हैं।

हिन्दी में आज्ञा अर्थ में क्रियापद प्रायः मूलरूप में रहते हैं। जैसे- आ, जा, खा, बल, उठ, बैठ, पूछ, लिख, पढ़ आदि। ये मध्यम पुरुष एकवचन आज्ञा अर्थ के रूप हैं। तू आ, तू पढ़, तू लिख आदि।

अंग्रेजी में एकवचन और बहुवचन में Sheep (भेड़, भेड़े), Deer (मृग) ही होता है। I go, We go, You go, They go में क्रिया go के साथ सम्बन्धतत्त्व नहीं है। अतः इसे शून्य तत्त्व कहते हैं। He goes, he walks में सम्बन्ध तत्त्व es, s है। यह प्रथम पुरुष एकवचन का अर्थ बताता है। फ्रेंच में Pierre Frappe Paul (पियेर फ्राप पाल-पियेर, पाल को पीटता है), इसमें 'फ्राप' क्रिया मूलरूप में है, अतः शून्य तत्त्व है। अंग्रेजी में भूतकाल के ये रूप शून्य तत्त्व के उदाहरण हैं- Cut, put, bet, Let, set, wed, spread आदि।

(2) स्वतन्त्र शब्द- विश्व की अनेक भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं, जैसे- (क) संस्कृत में-इति, च, वा, कृते, अर्थम् आदि। 'इति' उद्धरण का काम करता है। न गमिष्यामि इत्युवाच ('नहीं जाऊँगा' ऐसा उसने कहा)। स्नानस्य कृते, स्नानार्थम् (नहाने के लिए), रामः कृष्णश्च, रामः कृष्णो वा (च और वा-अथवा)।

(ख) हिन्दी में-कारक चिह्न ने, को, से, द्वारा का पर आदि।

(ग) अंग्रेजी में-To (को), from (से), in (में), on (पर), upon (पर), with (से) आदि।

(घ) चीनी भाषा में-कारक चिह्न आदि के वाचक शब्द-मेन (बहुवचन चिह्न), ति (का), यु (को), त्सुंग (से), लि (पर) आदि। चीनी भाषा में पूर्ण (full) और रिक्त (Empty) दो प्रकार के शब्द होते हैं। सम्बन्धतत्त्व वाले शब्द रिक्त शब्द होते हैं।

(ङ) फ्रेंच में Quidi (किदि, उद्धरण-सूचक), du (दु-का), Dans (दाँ-में), ne---pas (नपा, नहीं), Sur (स्युर-पर)।

(च) जर्मन में-zu (त्सु-को), Auf (आउफ-पर), Mit (मित-से)।

लैटिन, ग्रीक, अरबी, फारसी आदि में इसीप्रकार के सम्बन्धतत्त्व-बोधक स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते हैं। अंग्रेजी में If-then, Either-or, neither-nor आदि। संस्कृत में यत्र-तत्र (जहाँ-वहाँ), च-तथा, यदि-तर्हि। हिन्दी में ज्यों-त्यों, यद्यपि- तथापि, यदि-तो।

(3) **पद-क्रम (शब्द-स्थान)**- संसार की विभिन्न भाषाओं में वाक्यों में पदों का क्रम निश्चित होता है। तदनुसार ही उसका अर्थ समझा जाता है। इस प्रकार वाक्य में पद-क्रम या शब्दों का निश्चित स्थान सम्बन्धतत्त्व का काम करता है-जैसे संस्कृत और हिन्दी में वाक्य में पद-क्रम है-कर्ता, कर्म, क्रिया। किन्तु अंग्रेजी में क्रम है-कर्ता, क्रिया, कर्म। यदि पदों का क्रम बदल दिया जायगा तो अर्थ में अन्तर हो जाएगा।

Ram killed Ravana. - राम ने रावण को मारा।

Ravana killed Ram. - रावण ने राम को मारा।

केवल स्थान बदलने से पूरा अर्थ बदल गया। मुखं कमलं इव सुन्दरम्। (मुख उपमेय, कमल उपमान) कमलं मुखं इव सुन्दरम्। (कमल उपमेय, मुख उपमान)। केवल स्थान बदल देने से उपमेय-उपमान में अन्तर हो गया। दूसरे वाक्य में मुख कमल के तुल्य सुन्दर नहीं रहा, अपितु कमल ही मुख के तुल्य सुन्दर हो गया। हिन्दी में स्थान-भेद से कर्ता कर्म हो जाता है।

घर गिर गया। (घर कर्ता), मैं घर जाता हूँ। (घर कर्म)

चीनी भाषा में क्रम है- कर्ता, क्रिया, कर्म। केवल स्थान बदल देने से कर्ता कर्म हो जाता है और कर्म कर्ता। वो त नि (वो-मैं, त-मारता हूँ, नि-तुम, तुमको), नि त वो (तू मुझे मारता है)।

संस्कृत और हिन्दी में समस्त (समास युक्त) पदों में शब्दों का स्थान सम्बन्धतत्त्व का काम करता है। स्थान-भेद से अर्थ में अन्तर हो जाता है, जैसे-

पतिगृह - पति का घर, ससुराल।

गृहपति - घर का स्वामी, गृह-स्वामी।

राजपण्डित - राजाओं का पण्डित।

पण्डितराज - पण्डितों का राजा।

घनश्याम - बादल के तुल्य काला।

श्यामघनः - काला बादल।

राजगृह - राजा का घर, महल।

गृहराज - घरों का राजा, बड़ा घर।

संस्कृत और हिन्दी में अधिकारी का प्रयोग पहले होता है, बाद में अधिकृत वस्तु। जैसे राजगृह, राजप्रासाद, राजभवन, राजकुमार, पतिगृह, श्वसुरालय (ससुराल)। चीनी भाषा में भी ऐसा ही क्रम है। राजा का घर- वांग तियेन (वांग-राजा, तियेन-घर)। फ्रेंच और वेल्श भाषाओं में इसका क्रम उल्टा है, अर्थात् अधिकृत वस्तु पहले, अधिकारी बाद में। जैसे-राजभवन को फ्रेंच भाषा में La maison du roi (ला मेजों दधु रुआय मेजों-भवन, दधु-का, रूआ-राजा), वेल्श भाषा में ति ब्रेनहिन (ति-भवन, ब्रेनहिन-राजा)।

(4) **द्विरुक्ति (Reduplication)**-अनेक भाषाओं में पूरे अंग या उसके अंश की द्विरुक्ति या आवृत्ति सम्बन्धतत्त्व का काम करती है। संस्कृत में धातु आदि की द्विरुक्ति (दो बार पढ़ना) में प्रथम अंश को अभ्यास कहते हैं। संस्कृत में द्विरुक्ति से अर्थ में अन्तर हो जाता है। लिट् (परोक्ष भूत) में द्विरुक्ति मुख्यरूप से दिखाई देती है, जैसे-दृश् (देखना)>ददर्श (देखा), पठ्>पपाठ (पढ़ा), लिख्>लिलेख (लिखा), गद्>जगाद (बोला)। कार्>कारम्, श्रावं>श्रावम्, ग्रामं>ग्रामम्, बार-बार या प्रत्येक, अर्थ बताते हैं।

सन् और यङ् प्रत्यय करने पर भी द्वित्व होता है। युध्>युयुत्सते (लड़ना चाहता है), पठ्>पिपठिषति (पढ़ना चाहता है), कृ>चिकीर्षति (करना चाहता है)। भू>बोभूयते (बार-बार होता है)। णिच् प्रत्ययान्त के लुङ् (भूतकाल) में भी द्वित्व होता है। चुर>अचूचुरत् (चुराया)।

ग्रीक और लैटिन में भी परोक्ष भूत अर्थ में द्वित्व होता है, ग्रीक Leip-o (मैं छोड़ता हूँ), Le-loip-a (मैंने छोड़ा)। भूतकाल में स्वर-परिवर्तन भी हुआ है-Leip को Loip। लैटिन में-Can-o (मैं गाता हूँ), Ce-cin-i (मैंने गाया)। यहाँ भी भूतकाल में स्वर-परिवर्तन-Can > Cin।

(5) **आगम** (Affixation, Addition)–शब्दों और धातुओं में उनसे पहले, मध्य में या अन्त में कुछ सम्बन्धतत्त्व जुड़ जाते हैं, उन्हें आगम कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं–

(क) आदिसर्ग या उपसर्ग (Prefix)

(ख) विकरण या मध्यसर्ग (Infix)

(ग) प्रत्यय या अन्तसर्ग (Suffix)

अंग्रेजी में इन तीनों के लिए एक शब्द है Affix (आगम, जो जुड़ता है)। इसी के तीन भेद हैं–(क) Prefix (Pre-पहले, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे व्यापक अर्थ देकर उपसर्ग कह सकते हैं। हिन्दी में इसको आदियोग, पूर्वसर्ग, आदि-सर्ग, पूर्व प्रत्यय आदि भी कहते हैं।(ख) in-fix (In-अन्दर, fix-जुड़ना)। संस्कृत में मध्य में जुड़ने वालों को ‘विकरण’ कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए मध्य-योग, मध्य-सर्ग शब्द भी आते हैं।(ग) Suffix (sub-बाद में, fix-जुड़ना)। संस्कृत में इसे प्रत्यय कहते हैं। हिन्दी में इसे अन्तयोग, अन्तसर्ग भी कहते हैं।

(क) **पूर्वसर्ग** (Prefix)–पूर्वसर्ग (उपसर्ग आदि) के पहले लगने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। हार से ही प्रहार, आहार, विहार, संहार आदि विभिन्न अर्थ वाले शब्द बन जाते हैं। अतः संस्कृत का सुभाषित है–

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते।

प्रहाराहार-संहार-विहार परिहारवत्।। (सि. कौ.)

इसीप्रकार भाव से आविर्भाव, तिरोभाव, प्रभाव, अनुभाव आदि। विजय, पराजयः विधान, में वि धान, नि-धानः विकार, संस्कार आदि।।

अंग्रेजी में पूर्वसर्ग या आदियोग के अनेक उदाहरण हैं। Re, de, im, ex, per com आदि अनेक पूर्वसर्ग हैं। जैसे– Re-ceive (रिसीव, पाना), de-ceive (डिसीव-धोखा देना), Per-ceive (परसीव देखना), Conceive (कन्सीव-मोचन)। इसीप्रकार Im-port, Ex-port. Pre-fer, Re-fer, Con-fer आदि।

संस्कृत में लड़, लुङ् आदि में प्रारम्भ में लगने वाला ‘अ’ भी आदि-योग या पूर्वसर्ग है, जैसे पठ्>अपठत् (पढ़ा), अलिखत् (लिखा), अकरोत् (किया)। यह भूतकाल का अर्थ बताता है।

(ख) विकरण या मध्यसर्ग (Infix) मध्य में जुड़नेवाले प्रत्यय आदि अनेक प्रकार के हैं-

(1) विकरण-भू आदि धातुओं से होनेवाले शप् (अ), श्यन् (य) आदि। पठ्-पठति, युध्-युध्यते, कृ-करोति, ज्ञा-जानाति, चुर-चोरयति। (2) कर्मवाच्य और भाववाच्य बोधक य-गम्-गम्यते, कृ-क्रियते। (3) प्रेरणार्थक णिच् (अय)-पठ्-पाठयति, कारयति। (4) इच्छार्थक सन् (स)-कृ-चिकीर्षति, युयुत्सते, पिपठिषति। रुधादिगण में शनम् (न) धातु के बीच में जुड़ता है। रुध्-रुन्ध् (रोकना), छिद्-छिन्द, छिनति (काटता है), भुज्-भुङ्क्ते (खाता है)। संस्कृत में मध्ययोग के उदाहरण बहुत अधिक हैं।

हिन्दी में लिखना-लिखवाना, करना-करवाना, उठना-उठवाना, गिरना-गिरवाना आदि प्रेरणार्थक शब्द मध्ययोग के ही उदाहरण हैं।

(ग) प्रत्यय या अन्तसर्ग (Suffix) शब्दों या धातुओं के अन्त में जुड़ने वाले प्रत्यय। संस्कृत में तिङ्, सुप् आदि। जैसे- देव-देवः, देवौ, देवाः, देवम् आदि। पठ्-पठति, पठतु, अपठत्, पठिष्यति आदि। कृत, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि भी प्रत्यय या अन्तसर्ग हैं। कृ-कर्तव्य, भूत-भौतिक, ब्राह्मण-ब्राह्मणी।

अंग्रेजी में बहुवचनसूचक S, भूतकाल सूचक ed निरन्तरता द्योतक-ing अन्तसर्ग ही हैं। Boy > Boys, Walk > Walked, Go > Goning.

हिन्दी में कारक चिह्न ने, को, से, पर आदि तथा कालबोधक चिह्न ता, गा, आ आदि अन्तसर्ग के उदाहरण हैं। राम-राम को, राम ने। पढ़-पढ़ता है, पड़ेगा, पड़ा आदि।

(6) आन्तरिक परिवर्तन (Internal change)-शब्दों और धातुओं में उनके अन्दर कुछ परिवर्तन कर देने से अर्थ में अन्तर हो जाता है। यह तीन प्रकार का है-(क) स्वर-परिवर्तन, (ख) व्यंजन परिवर्तन, (ग) स्वर-व्यंजन-परिवर्तन।

(क) स्वर-परिवर्तन- गुण-गौण, देव-दैव, पुत्र-पौत्र, वसुदेव-वासुदेव, दशरथ-दाशरथि आदि। स्वर-परिवर्तन से पुत्र आदि अर्थ होते हैं। हिन्दी में स्वर परिवर्तन से भूतकाल, प्रेरणा आदि अर्थ होते हैं- उठ-उठा, हँस-हँसा, पढ़-पढ़ा, पढ़ना-पढ़ाना, करना-कराना, हँसना-हँसाना आदि।

अंग्रेजी में- Sing (गाना)> Sang, Sung; Run (दौड़ना)>Ran, Come>Came, Mouse>Mice, Tooth > Teeth, Foot > Feet, Man > Men बहुवचन बनते हैं।

जर्मन में Geb (गेब-देना) से Er gibt (एर गिब्ट-वह देता है), Wir geben (विर गेबेन-हम देते हैं), Wir gaben (विर गाबेन- हमने दिया)। e को i और आदेश।

अरबी आदि में अन्तर्वर्ती स्वर-परिवर्तन से अर्थभेद हो जाता है, जैसे- क् त् ब् (लिखना) से किताब, कातिब (लिखने वाला), कुतुब (पुस्तकें)। स् ल् म् (मानना)>सलाम, सलीम, सालिम। क् त् ल् (मारना) से कातिल (मारने वाला), किताल (युद्ध), कतोल (जो मारा गया)।

(ख) व्यंजन-परिवर्तन-व्यंजन परिवर्तन से अर्थ में भेद हो जाता है। भुज्>भोज्य (भक्ष्य)-भोग्य (उपभोग योग्य)। अंग्रेजी में Advice (संज्ञा, परामर्श), Advise एड्वाइज, परामर्श देना, क्रिया)। Send (भेजना) Sent (भेजा)।

(ग) स्वर-व्यंजन परिवर्तन- स्वर और व्यंजन दोनों बदलने से अर्थभेद। जैसे-संस्कृत में यज्> लुङ् परस्मैपद अयाक्षीत्, आत्मनेपद-अयष्ट (यज्ञ किया), भज् (सेवा करना)-लुङ् प अभाक्षीत्, आ. अभक्त (सेवा की), पच् (पकाना)-लुङ् अपाक्षीत्-अपक्त (पकाया)।

(7) आदेश (Suppletion, Replacement) मूल शब्द के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग। आदेश का अर्थ है- परिवर्तन। पूर्ण परिवर्तन को आदेश कहते हैं, जैसे-दृश्>पश्य, पश्यति (देखता है)। अस्> भू, बभूव (हुआ)। ब्रू> वच्, उवाच (बोला), (बोला)। अवोचत् (बोला)।ब्रू>आह, आह (कहता है)। सद्>सीद्-सीदति (बैठता है) आदि।

भाषा-विज्ञान के अनुसार दृश् को पश्य, अस् को भू और ब्रू को वच् आदि आदेश संभव नहीं हैं। थोड़ा ध्वनि-परिवर्तन संभव है, पर पूरी धातु बदल जाना और उसका काया-कल्प होना संभव नहीं है। इसलिए भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि दृश्-पश्य, अस्-भू, ब्रू-वच् आदि ये दोनों प्रकार की धातुएँ पहले प्रचलित थीं। परकाल में लट् आदि में पश्य शेष रही, अन्यत्र दृश्। इसीप्रकार अस् के लिट् आदि के रूप लुप्त हो गये और उनके स्थान पर भू के ही रूप रह

गये। इसीप्रकार ब्रू, वच् आह् तीन धातुएँ थीं। प्रत्येक के कुछ ही रूप शेष रहे, अन्य लुप्त हो गए।

हिन्दी में जा>गया। ये भी दो धातुएँ हैं। या (जाना) से 'जा' है। गम् से गतः (गया) बना। इसीप्रकार अंग्रेजी में भी Go>went (गया)। Went में Wen+t (वेन् धातु से भूतकालिक t) लगा, यह भाषाशास्त्री मानते हैं। इसीप्रकार Be (होना) से Is, are, am, was, were आदि रूप आदेश के हैं। ये भी प्राचीन रूपों के अवशेष हैं।

(8) न्यूनत्व या ध्वनिवियोजन (Subtraction)- इसको Minus-feature (ऋण-अभिलक्षण) भी कहते हैं। इसमें कुछ ध्वनियों को घटा या निकाल दिया जाता है। इसमें लोप-कार्य होता है। जैसे- गम्+त>गत (गया), कुरु+मः=कुर्मः (करते हैं), दा+सन्=दिदासति के स्थान पर दित्सति (देना चाहता है), लभ्+सन्=लिलप्सते के स्थान पर लिप्सते (पाना चाहता है)। मुच्+स>मुमुक्षते का मोक्षते (छूटना चाहता है)। इनमें स्वर, व्यंजन या स्वर व्यंजन समूह का लोप हुआ है।

फ्रेंच भाषा में इसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। फ्रेंच में अन्तिम व्यंजन का लोप होता है। पुलिंग में शब्द मूलरूप में रहता है, अतः अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है। स्त्रीलिंग में लग जाने से व्यंजन शेष रह जाता है। पुलिंग में शब्द ध्वनिन्यूनता युक्त होता है। यथा-

पुलिंग	उच्चारण	स्त्रीलिंग	उच्चारण	अर्थ
Gentil	जाँति	Gentille	जाँतिय	सज्जन
Petit	पति	Petite	पतित	छोटा, नाटा
Bon	बों	Bonne	बोन	अच्छा
Long	लों	Longe	लोंग	लम्बा

(9) स्वराघात (Accent) और लय (Modulation) स्वराघात, लय और तान भी सम्बन्धितत्व का काम करते हैं। इनसे अर्थ-भेद हो जाता है। इसके लिए संस्कृत का 'इन्द्रशत्रुः' शब्द प्रसिद्ध है- अन्तिम ध्वनि 'त्रु' पर उदात्त होने पर अर्थ होगा- इन्द्र का शत्रु (वृत्र), आदि वर्ण 'इ' पर उदात्त होगा तो अर्थ होगा इन्द्र है, शत्रु (नाशक) जिसका, वह। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वृत्र की विजय के लिए प्रार्थना की, पर तत्पुरुष स्वर के स्थान पर बहुव्रीहि-स्वर पढ़ देने से इन्द्र ही वृत्र का नाशक हो गया।

संस्कृत में तद्धित प्रत्यय आदि लगने पर स्वर में अन्तर हो जाता है। पु'त्र>पुत्र' वन्त्, पु'रुष> पुरुष' ता, ऋ'षि आर्षेय', अ'तिथि आतिथ्य'। हिन्दी में उ'ठा (उठा) उठा' (उठाओ)। भोजपुरी में जाबऽ? (तुम जाओगे?)–जाऽब (मैं जाऊँगा)। इसीप्रकार ले बऽ?–लेऽब, दे बऽ?–दे ऽब।

अंग्रेजी में बलाघात भेदक होता है। एक ही शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होता है। संज्ञा में प्रथम स्वर पर बलाघात होगा और क्रिया में अन्तिम स्वर पर। जैसे-Im'port (संज्ञा), Import' (क्रिया), Transfer (सं.)–Transfer' (क्रि.), Contact (सं.)–Contact (क्रि.), Project (सं.)–Project' (क्रि.)। ग्रीक में भी समस्त पदों में स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है–पत्रोक्स्तो'नोस (तो उदात्त, जो अपने पिता को मारता है), पत्रों' क्रस्तोनोस (जो उदात्त, अपने पिता द्वारा मारा गया)। इस प्रकार स्वराघात और लय सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं।

अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का संयोग :

अर्थतत्त्व (Semanteme) और सम्बन्धतत्त्व (Morpheme) का संयोग सभी भाषाओं में एक प्रकार का नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए, इनके तीन प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं–

(क) पूर्ण संयोग– कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार मिल जाते हैं कि दोनों को पृथक् दिखाना संभव नहीं है। वे 'नीरक्षीर–न्याय' के अनुसार दूध–पानी की तरह मिल जाते हैं। जैसे–

संस्कृत– भूत > भौतिक, आत्मन् आत्मिक, नदी>नद्यः।

अंग्रेजी– Run > Ran, Bring > Brought, Get > Got आदि।

अरबी– क् त् ब्>किताब, कातिब, मकतब, कुतुब, किताबत।

भारोपीय और सेमिटिक (Semitic, सामी) परिवार की भाषाओं में पूर्ण संयोग का बाहुल्य है।

(ख) अपूर्ण संयोग– कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार मिले रहते हैं कि वे एक होने पर भी अलग-अलग देखे जा सकते हैं। इसे

‘तिल-तण्डुलन्याय’ कहना चाहिए। जैसे-तिलों में चावल अलग दिखाई देते हैं, उसी तरह अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व पृथक् दिखाई देते हैं, जैसे- संस्कृत देव+त्व>देवत्व, मानवता-मानव+ता, सिंहवत्-सिंह+वत्, धनवान्-धन+वान्, आयुष्मान्- आयुष्+मान् ।

हिन्दी-उसको-उस+को, कृति-कृ+ति, भूत-भू+त, जीवन जीव्+अन, मैंने-मैं+ने, गाड़ीवान्-गाड़ी+वान्।

अंग्रेजी-Boys Boy+s, Walked-Walk+ed, Manly-Man+ly, Playing-Play+ing, Childish Child+ish.

तेलुगू गुरम् (पेड़)>गुरम्+उ (पेड़ का), गुरम् उनु (पेड़ को), गुरम् . उनकु (पेड़ के लिए)।

तुर्की-एव् (घर)>एव् इ (घर को)। एव् लेर्+इ (घरों को), एव्+इन (घर का), एव लेरिन (घरों का)। लेर् बहुवचन।

(ग) दोनों स्वतन्त्र- कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व की स्वतन्त्र स्थिति रहती है। इनको पृथक् किया जा सकता है। जैसे-

(1) चीनी भाषा में दो प्रकार के शब्द होते हैं- पूर्णशब्द, रिक्तशब्द। अर्थतत्त्व को पूर्णशब्द कहते हैं, सम्बन्धतत्त्व को रिक्तशब्द। रिक्तशब्दों पर कभी उदात्त स्वर (Accent) नहीं होता है। सम्बन्धतत्त्व के रूप में ‘ति’ का अर्थ है- का, मेन बहुवचन चिह्न, लि-भूतकाल का चिह्न।

पूर्णशब्द हैं-वो (Wo)-मैं, नी (Ni)-तू, था (Ta) वह। फु (Fu)-पिता, मु (Mu)-माता, फु-चिन (पिता) और मु-चिन (माता)। ‘चिन’ का स्वतंत्र अर्थ ‘सम्बन्धी’ है, फु-चिन (पितृ-सम्बन्धी, पिता)।

पूर्ण शब्द	रिक्त शब्द	शब्द	अर्थ
वो (Wo, मैं)	ति (ti, का)	वोति	मेरा
फुचिन (पिता)		वोति फुचिन	मेरे पिता
लाइ (Lai, आना)	ला (la, भूतकाल)	लाइला	आया

इस प्रकार वो-मेन-ति मु-चिन (हमारी माँ), नी-मेन-ति फू-चिन (तुम्हारे पिता)।

(2) कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व एक स्थान पर इकट्ठे कर दिए जाते हैं और सम्बन्धतत्त्व दूसरी जगह। अमेरिका की चिनुक भाषा में सम्बन्धतत्त्व पहले रख दिया जाता है और अर्थतत्त्व बाद में, जैसे 'उस आदमी ने औरत को चाकू से मार दिया'—इस वाक्य को लिखा जाएगा—मारना-आदमी औरत-चाकू। वह (मनुष्य) वह (स्त्री) यह-से। मारना-आदमी, औरत-चाकू।

सम्बन्धतत्त्व की अधिकता

कुछ भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व प्रत्येक शब्द के साथ लगता है। इसलिए सम्बन्धतत्त्वों की अधिकता हो जाती है, जैसे सूबी भाषा में 'ब' बहुवचन सूचक है।

लड़कियाँ चलती हैं ब-कजन ब एंदा। 'मु' एकवचन का चिह्न है। सुन्दर व्यक्ति मु-न्तु मु-लोटु।

संस्कृत में विशेष्य के अनुसार सभी विशेषणों में लिङ्ग, वचन, विभक्ति लगते हैं—त्रीणि सुन्दराणि पुस्तकानि, त्रयः वीराः योधाः, तिस्त्रः कोमलाङ्ग्यः युवतयः। इस प्रकार प्रत्येक शब्द से सम्बन्धतत्त्व लगते हैं।

संस्कृत में सम्बन्धतत्त्व

सम्बन्धतत्त्व के जो 6 प्रकार बताए गये हैं, वे सभी संस्कृत में मिलते हैं।

1. शून्य तत्त्व— जैसे-बालिका, वारि, मधु, वाक् पयः आदि।
2. स्वतन्त्र शब्द—इति, च, वा, कृते, अर्थम् आदि।
3. पदक्रम— पतिगृह गृहपति, राजगृह-गृहराज।
4. द्विरुक्ति—दृश् > ददर्श, युध् > युयुत्सुः, चूर्-अचूचुरत्।
5. आगम— इसके तीनों भेद पूर्वसर्ग, मध्यसर्ग, अन्तसर्ग मिलते हैं।
जैसे विजय, युध्-युध्यते, देव-दैव।

6. आन्तरिक परिवर्तन— इसके भी तीनों भेद मिलते हैं।

जैसे गुण-गौण, भोज्य-भोग्य, भज्-अभाक्षीत्, अभक्त।

7. आदेश— जैसे दृश्>पश्य, अस्>भू।
8. ध्वनि वियोजन—दा+सन् दिदासति के स्थान पर दित्सति।
9. स्वराघात— इन्द्रशत्रुः।

3.5.3 पद-विभाग (Parts of Speech)

यास्क ने निरुक्त में पद को चार भागों में विभक्त किया है। इसको आधुनिक ढंग से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

1. नाम- संज्ञा शब्द (राम, रमा, बालक आदि)
2. आख्यात- क्रिया शब्द (जाना, खाना आदि)
3. उपसर्ग- सम्बद्ध अव्यय (प्र, उप, सम् आदि)
4. निपात- अव्यय शब्द (च, वा, इव, हि आदि)

यास्क ने पद के चार विभागों के उल्लेख में नाम और आख्यात (नामाख्याते) को एक साथ लिखा है और उपसर्ग तथा निपात को (उपसर्ग-निपाताश्च) अलग दिया है। इससे स्पष्ट है कि पद-विभागों में नाम और आख्यात ही मुख्य हैं, अतः इसे एक समस्त पद में दिया गया है। उपसर्ग और निपात को कम महत्वपूर्ण समझकर, इसे पृथक् दिया है। सामान्यतया पद के ये चार भाग प्रतिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी स्वीकार किए गए हैं। पाणिनि ने सुप्तिङन्त पदम् (अष्टा. 1-4-14) में पद को केवल दो भागों में विभक्त किया है। सुबन्त (नाम), तिङन्त (आख्यात)। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में विशेष रूप से उल्लेख किया है कि प्राचीन दो आचार्य वार्ताक्ष और औदुम्बरायण पद के दो ही विभाग मानते थे। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो नाम और आख्यात यही दो तत्त्व मुख्य हैं। उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु निर्बद्ध (बद्ध) होकर ही अर्थ के द्योतक होते हैं। अतः वैयाकरणों ने उपसर्ग को वाचक न मानकर केवल द्योतक (प्रकाशक) माना है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, अतः इसे अव्यय कहते हैं। उपसर्ग और निपात में अन्तर यह है कि निपात का प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। पाणिनि ने उपसर्ग और निपात को भी सुबन्त में लिया है। अतः इनके बाद की कारक विभक्तियों का लोप दिखाया है।

भर्तृहरि ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्यों ने पद के दो, चार और पाँच भेद माने हैं। उन्होंने पाँचवाँ भेद कर्मप्रवचनीय भी दिया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय, वे शब्द हैं, जो पहले क्रिया के बोधक थे (कर्म क्रिया, प्रवचनीय कहने वाले अर्थात् जो क्रिया बोधक थे), किन्तु प्रयोग से घिसने के कारण केवल उपसर्ग आदि के रूप में शेष रह गए।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पाणिनि का पद विभाजन सर्वश्रेष्ठ है। संज्ञा और क्रिया, ये दो ही मुख्य हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए ही नाम से उपसर्ग और निपात को पृथक गया है।

हिन्दी में पद विभाग अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर किया गया है। कामता प्रसाद ने हिन्दी के आठ पद-विभाग किए हैं- संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण सम्बन्ध सूचक, समुच्चय-बोधक, विस्मयादिबोधक। अंग्रेजी का पद विभाग वस्तुतः लैटिन से लिया गया है। यह विभाजन अंग्रेजों के लिए भी संगत नहीं माना जाता है। परम्परा के आधार पर, अनावश्यक एवं अनुपयुक्त होने पर भी, यह आठ प्रकार का पद विभाग हिन्दी में माना जाता है। वस्तुतः इन आठ विभागों को 3 विभागों में समाहित किया जा सकता है।

1. नाम- संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण। ये संज्ञा के ही विभिन्न रूप हैं। नाम में इनका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि ने इनको सुबन्त में रखा है।

2. आख्यात या तिङन्तक्रिया शब्द।

3. अव्यय इसमें क्रिया विशेषण (जब, तब कहाँ, जैसा आदि), सम्बन्ध सूचक (को, ने, से आदि), समुच्चय-बोधक (और, अथवा, किन्तु आदि), विस्मयादि बोधक (ओह, आह, छिः आदि), ये चारों भेद समाहित होते हैं। इस प्रकार आठ भेदों को तीन भेदों में लिया जा सकता है।

3.6 अभ्यास प्रश्न :

1. मानवीय ध्वनियंत्रों की प्रासंगिकता को बताइये।
2. ध्वनि परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. ध्वनि-नियमों को समझाते हुए, आप किस नियम से सहमत हैं, बताइये।
4. पद और वाक्य के विषय में प्रचलित दो मुख्यवादों का उल्लेख कीजिए।
5. पद और सम्बन्ध तत्त्व पर टिप्पणी लिखिए।



वाक्य विज्ञान एवं अर्थ विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 वाक्य विज्ञान

4.2.0 वाक्य विज्ञान का स्वरूप

4.2.1 पद और वाक्य

4.2.2 वाक्य की परिभाषा

4.2.3 वाक्य और पदक्रम

4.2.4 वाक्यों के प्रकार

4.2.5 वाक्य में परिवर्तन की दिशाएं

4.2.3 वाक्य में परिवर्तन के कारण

4.3 अर्थ विज्ञान

4.3.0 अर्थ विज्ञान क्या है?

4.3.1 अर्थ विज्ञान का इतिहास

4.3.2 अर्थ विज्ञान का महत्व

4.3.3 शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

4.3.4 अर्थ ज्ञान के साधन

4.4 अर्थ परिवर्तन की दिशाएं

4.4.0 अर्थ विस्तार

4.4.1 अर्थ संकोच

4.4.2 अर्थदिश

4.4.3 अर्थोत्कर्ष

4.4.4 अर्थपकर्ष

4.5 अर्थ-परिवर्तन के कारण

4.5.0 अर्थिम, अर्थ तत्त्व

4.6 अभ्यास प्रश्न

4.0 उद्देश्य :

1. वाक्य के लक्षण एवं भेद के साथ ही उसमें परिवर्तन की दिशाएं तथा कारणों की जानकारी करना।
2. वाक्य विज्ञान का स्वरूप के साथ-साथ वाक्य और पदक्रम की विशद् जानकारी करना।
3. अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत अर्थ का लक्षण तथा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में जानकारी करना
4. अर्थ परिवर्तन की दिशाओं एवं अर्थ परिवर्तन के कारणों के विषय में जानना।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों यह इकाई वाक्य विज्ञान और अर्थ विज्ञान से सम्बन्धित है। इस इकाई में भाषा की प्रमुख इकाई वाक्य का लक्षण तथा भेद के साथ-साथ वाक्य में परिवर्तन की दिशाएं और कारणों पर विशद् चर्चा की जायेगी साथ ही अर्थ विज्ञान के विषयों जैसे- अर्थ का लक्षण, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, अर्थ परिवर्तन की दिशाएं तथा अर्थ के परिवर्तनों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

4.2 वाक्य-विज्ञान (Syntax)

वाक्यानां रचना भेदाः, परिवृत्तिः पदक्रमः।

वाक्य-विश्लेषणं चैव, वाक्यविज्ञानमिष्यते।

अर्थात् वाक्य-विज्ञान में निम्नलिखित बातों का विवेचन किया जाता है- वाक्यों की रचना, वाक्यों के प्रकार (भेद), वाक्यों में परिवर्तन, वाक्यों में पदक्रम (पद-विन्यास) और वाक्यों का विश्लेषण।

4.2.0 वाक्य-विज्ञान का स्वरूप :

वाक्य-विज्ञान में भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों के परस्पर सम्बन्ध का विचार किया जाता है। अतएव वाक्य विज्ञान में अग्रलिखित सभी विषयों का समावेश हो जाता है- वाक्य का स्वरूप, वाक्य की परिभाषा, वाक्य की रचना, वाक्य के अनिवार्य तत्त्व, वाक्य में पदों का विन्यास, वाक्यों के प्रकार, वाक्य का विभाजन, वाक्य में निकटस्थ अवयव, वाक्य में परिवर्तन, परिवर्तन की दिशाएँ, परिवर्तन के कारण, पदिम (Taxeme) आदि। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान में वाक्य से संबद्ध सभी तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

पद-विज्ञान और वाक्य विज्ञान में अन्तर यह है कि पद-विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पदविभाजन (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि), कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं? इस पर विचार किया जाता है। वाक्य-विज्ञान उससे अगली कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ, किस प्रकार प्रयोग होता है, पदों को किस प्रकार रखना या सजाना चाहिए, उनको विभिन्न प्रकार से रखने से अर्थ में क्या अन्तर होता है, आदि विषयों का विवेचन है। ध्वनि निर्मापक तत्त्व है- जैसे मिट्टी, कपास आदि। पद बने हुए, वे तत्त्व हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है, जैसे- ईट, वस्त्र आदि। वाक्य वह रूप है, जो वास्तविक रूप में प्रयोग में आता है, जैसे- मकान, सिले वस्त्र आदि। पद ईट है तो वाक्य मकान या भवन।

तात्त्विक दृष्टि से ध्वनि, पद और वाक्य में मौलिक अन्तर है। ध्वनि मूलतः उच्चारण से संबद्ध है। यह शारीरिक व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः ध्वनि में मुख्यतया शारीरिक व्यापार प्रधान है। पद में ध्वनि और सार्थकता दोनों का समन्वय है। ध्वनि शारीरिक पक्ष है और सार्थकता मानसिक पक्ष है। पद में शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्वों के समन्वय से वह वाक्य में प्रयोग के योग्य बन जाता है। सार्थकता का सम्बन्ध विचार से है। विचार, मन का कार्य है, अतः पद में मानसिक व्यापार भी है। वाक्य में विचार, विचारों का समन्वय, सार्थक एवं समन्वित रूप में अभिव्यक्ति- ये सभी कार्य विचार और चिन्तन से संबद्ध हैं, अतः मानसिक कार्य है। वाक्य में

मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष मुख्य होता है। विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति वाक्य से होती है। अतः वाक्य ही भाषा की सूक्ष्मतम सार्थक इकाई मानी जाती है। इनका भेद इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है- 1. ध्वनि उच्चारण से संबद्ध है, शारीरिक तत्त्व मुख्य है, प्राकृतिक तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रकृति के तुल्य 'सत्' है। 2. पद- इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों तत्त्व हैं, सत् के साथ चित् भी है, अतः 'सच्चित्' रूप है। 3. वाक्य मानसिक पक्ष की पूर्ण प्रधानता के कारण भाषा का अभिव्यक्त रूप है, अतः 'आनन्द' रूप या 'सच्चिदानन्द' रूप है। वाक्य ही सार्थकता के कारण रसरूप या आनन्दरूप होता है। भावानुभूति, रसानुभूति या आनन्दानुभूति का साधन वाक्य ही है। वाक्य सत्, चित्, आनन्द का समन्वित रूप है, अतः दार्शनिक भाषा में इसे 'सच्चिदानन्द' कह सकते हैं।

4.2.1 पद और वाक्य (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद) :

पद और वाक्य के सापेक्ष महत्त्व पर दार्शनिकों में पर्याप्त विवाद है। इस विषय पर न्यायदर्शन, मीमांसादर्शन और व्याकरण-दर्शन में बहुत विस्तार से विचार हुआ है। मीमांसा के दो प्रमुख आचार्यों ने पद और वाक्य के सापेक्ष महत्त्व पर दो विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं-

(1) **अभिहितान्वयवाद-** इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं। इनका मत 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। इसका अर्थ है- 'अभिहितानां पदार्थानाम् अन्वयः' पद अपने अर्थ को कहते हैं और उनका वाक्य में अन्वय हो जाता है। इस अन्वय से एक विशिष्ट प्रकार का वाक्यार्थ निकलता है। इस वाद को 'पद-वाद' कह सकते हैं। इस वाद में पदों का महत्त्व है और पद-समूह ही वाक्य है। पद के अतिरिक्त वाक्य का कोई महत्त्व नहीं है।

(2) **अन्विताभिधानवाद-** इस वाद के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट के शिष्य आचार्य प्रभाकर गुरु हैं। इनका नाम प्रभाकर है। योग्यता में अपने गुरु कुमारिल से भी अधिक बढ़े हुए थे, अतः अपने गुरु का भी गुरु हो जाने के कारण इन्हें 'गुरु' कहा जाने लगा। इनका मत 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। इसका अर्थ है- 'अन्वितानां पदार्थानाम् अभिधानम्' वाक्य में पदों के अर्थ समन्वित रूप से विद्यमान रहते हैं। वाक्य

को तोड़ने से पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ ज्ञात होता है। वाक्य से पदों को निकालने को 'अपोद्धार' (Analysis) कहते हैं। इस वाद में वाक्य को महत्त्व दिया गया है, अतः इसे 'वाक्यवाद' भी कह सकते हैं। 'अन्विताभिधानवाद' के अनुसार पदों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे वाक्य के अवयव हैं और वाक्य विश्लेषण से उनका अर्थ निकलता है। इस मत के अनुसार 'वाक्य ही भाषा की सार्थक इकाई है'। आधुनिक भाषा-विज्ञान भी इस मत का पोषक है कि 'Sentence is a significant unit'. आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है-

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन्॥ (वाक्य. 1-73)

(अर्थात् पदों में वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और न वर्णों में अवयवों की। वाक्य के अतिरिक्त पदों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।)

विचार करने से ज्ञात होता है कि 'वाक्यवाद' ही ग्राह्य मत है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। 'अंगों का समूह शरीर है या शरीर के अवयव अंग है'। विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि हाथ, पाँव, आँख, नाक आदि को मिलाकर शरीर नहीं बना है अपितु ये सभी अंग हमारे शरीर के अवयव हैं। इसीप्रकार भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। मन में विचार या भाव समन्वित रूप में वाक्य के रूप में उदय होते हैं। उन वाक्यों को धारावाहिक रूप में हम उच्चारण द्वारा प्रकट करते हैं। विचार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि पदों के रूप में उदय नहीं होते हैं। अतः वाक्य की स्वाभाविक एवं स्वतन्त्र सत्ता है। सामान्य जन को सिखाने के लिए वाक्य-विश्लेषण (अपोद्धार) द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात के रूप में वाक्य विश्लेषण करके पद बनाए जाते हैं और उनका अर्थ निर्धारित किया जाता है। यदि चिन्तन पदों के रूप में होगा तो विचारों का प्रवाह ही नहीं बनेगा।

वाक्य-प्रयोग वस्तुतः एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। वाक्य प्रयोग का मनोवैज्ञानिक क्रम यह है (1) चिन्तन- अपने अभीष्ट अर्थ का विचार करना, (2) चयन- उपयुक्त शब्दों को चुनना, (3) भाषिक गठन- व्याकरण के अनुरूप उन शब्दों को क्रमबद्ध लगाना, (4) उच्चारण- उच्चारण के द्वारा वाक्य रूप में उन्हें प्रकट करना।

ये चारों चीजें बहुत सुसंबद्ध रूप में चलनी चाहिएँ, तभी भाषण सुव्यवस्थित होगा। चिन्तन और उच्चारण में समरूपता न होने पर अव्यवस्था होगी। चिन्तन शिथिल होने पर अटकना पड़ेगा, अधिक तीव्र होने पर उच्चारण की गति साथ नहीं देगी। उच्चारण की गति तेज करने पर भाषा अस्पष्ट हो जाएगी और अर्थबोध ठीक नहीं होगा।

4.2.2 वाक्य की परिभाषा :

वाक्य की परिभाषा अत्यन्त विवादास्पद है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों, दार्शनिकों और साहित्यकारों ने वाक्य की परिभाषा अलग-अलग दी है-

पतंजलि ने महाभाष्य में वाक्य के 5 लक्षण बताए हैं-1. एक क्रिया-पद वाक्य है। 2. अव्यय, कारक और विशेषण से युक्त क्रिया-पद वाक्य है। 3. क्रिया-विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है। 4. विशेषण-युक्त क्रिया-पद वाक्य है। 5. क्रियापद-रहित संज्ञा-पद भी वाक्य होता है। जैसे तर्पणम् (तर्पण करो), पिण्डीम् (ग्रास खाओ)। मीमांसकों, नैयायिकों और साहित्यशास्त्रियों ने साकांक्ष पद-समूह को 'वाक्य' माना है। आचार्य विश्वनाथ ने 'आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य माना है।'

आचार्य 'भर्तृहरि' ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों और दार्शनिकों के मतों का संग्रह 'वाक्यपदीय' में करते हुए वाक्य की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं-

- (1) क्रिया-पद को वाक्य कहते हैं।
- (2) क्रिया-युक्त कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
- (3) क्रिया एवं कारकादि-समूह में रहने वाली जाति वाक्य है।
- (4) क्रियादि-समूहगत एक अखण्ड शब्द (स्फोट) वाक्य है।
- (5) क्रियादि-पदों के क्रम-विशेष को वाक्य कहते हैं।
- (6) क्रियादि के बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं।
- (7) साकांक्ष प्रथम पद को वाक्य कहते हैं।
- (8) साकांक्ष पृथक्-पृथक् सभी पदों को वाक्य कहते हैं।

पतंजलि और थ्रॉक्स- ईसा से पूर्व भाषाशास्त्रीय तत्त्व-चिन्तकों में भारत में 'पतंजलि' (15 ई. पू. के लगभग) और यूरोप में 'डियोनिसियस थ्रॉक्स' (प्रथम शताब्दी ई. पू.) का नाम उल्लेखनीय है। दोनों ही आचार्यों ने वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।'

इसमें दो बातों पर विशेष बल दिया गया है-

(क) वाक्य शब्दों का समूह है।

(ख) वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

समीक्षा-भाषाशास्त्री वाक्य की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं को पूर्णतया स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उनके तर्क ये हैं-

1. भाषा की इकाई वाक्य है, न कि शब्दसमूह या पद।
2. यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य शब्दों का समूह ही हो। एक पद वाले भी वाक्य प्रयोग में आते हैं। 'चलोगे?' 'हाँ', 'कहाँ से?' 'घर से', 'कुतः' 'नद्याः' आदि।
3. अनेक भाषाओं में एक समस्त पद ही पूरे वाक्य का काम देता है।
4. वाक्य भाषा का एक अंग है, वह पूर्ण की प्रतीति नहीं करा सकता। एक ग्रन्थ या भाषण में सहस्रों वाक्य होते हैं, तब पूर्ण की अभिव्यक्ति होती है। एक-एक वाक्य विचार-धारा की एक-एक तरंग मात्र है।

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा- वाक्य की निर्विवाद शास्त्रीय परिभाषा देना संभव नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं-

'सार्थ लघिष्ठं पूर्णार्थं वाक्यं स्याद् भाषणाङ्गकम्।' अर्थात् 'पूर्ण अर्थ की बोधक सार्थक लघुतम इकाई को वाक्य कहते हैं। यह भाषण या विचारों का एक अंग होता है।'

कोई भी वाक्य तात्त्विक रूप से पूर्ण अर्थ का बोध नहीं कराता है। वह विचार-धारा का एक अंश होता है। पूरा भाषण या पूरा ग्रन्थ ही पूर्ण अर्थ का बोधक होता है। उसे हम 'महावाक्य' कह सकते हैं। वाक्य उसका अंग होगा। पतंजलि ने वाक्य की सत्ता के साथ ही 'महावाक्य' की सत्ता भी मानी है और वाक्य को अंग माना है।

सा चावश्यं वाक्यसंज्ञा वक्तव्या, समानवाक्याधिकारश्च।

(महाभाष्य 2-2-1)

वाक्य के अनिवार्य तत्त्व :

अभिहितान्वयवादी आचार्य कुमारिल भट्ट आदि ने वाक्य में तीन तत्त्वों को अनिवार्य बताया है-1. आकांक्षा, 2. योग्यता, 30 आसत्ति (संनिधि)। इसको ही आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है।

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। (सा. दर्पण 2-1)

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

(1) **आकांक्षा**-आकांक्षा का अर्थ है- अपेक्षा या जिज्ञासा की असमाप्ति। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। कर्ता को कर्म और क्रिया की अपेक्षा रहती है, कर्म को कर्ता एवं क्रिया की तथा क्रिया को कर्ता एवं कर्म की। अपेक्षा को 'जिज्ञासा' भी कह सकते हैं। इस अपेक्षा या जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही वाक्य बनता है। आकांक्षा की पूर्ति के बिना वाक्य अपूर्ण रहता है। इसलिए वाक्य में पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य वाक्य है। साकांक्षता के कारण वाक्य में पद परस्पर संबद्ध (Inter-related) होते हैं। जैसे-केवल, 'राम' कहने से वाक्य पूरा नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि वह क्या करता है?, 'पढ़ता है', कहने पर जिज्ञासा होती है कि कौन पढ़ता है? 'क्या पढ़ता है?' इसी प्रकार केवल 'पुस्तक' कहने से भी वाक्य की पूर्ति नहीं होती। पुस्तक का क्या होता है? रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है), वाक्य में कर्ता 'राम', 'पुस्तक' नाम के कर्म को, 'पढ़ना' क्रिया करता है। ये तीनों पद 'रामः पुस्तकं पठति' परस्पर आकांक्षा-युक्त (साकांक्ष, अपेक्षायुक्त) है, अतः वाक्य पूर्ण हुआ। आकांक्षा के द्वारा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति होती है। साकांक्ष पद ही वाक्य होते हैं। आकांक्षा-रहित गाय, अश्व, मनुष्य आदि शब्द वाक्य नहीं होते।

(2) **योग्यता**- योग्यता का अर्थ है-पदों में पारस्परिक संबंध की योग्यता या क्षमता। अर्थात् पदों के द्वारा जो अर्थ कहा जा रहा है, उसको क्रियात्मक रूप देने की योग्यता या क्षमता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह होता है कि पदों के अन्वय में कोई बाधा न हो। पदों के अन्वय में दो प्रकार से बाधा पड़ती है (क) अर्थमूलक, (ख) व्याकरण-मूलक।

(क) अर्थमूलक बाधा या अयोग्यता-कोई वाक्य व्याकरण की दृष्टि से ठीक हो, परन्तु अर्थ या प्रतीति की दृष्टि से अयोग्य या अनुपयुक्त हो, तो वह वाक्य नहीं होगा। जैसे- सः वह्निना सिंचति (वह आग से सींचता है), सः वायुना लिखति (वह हवा से लिखता है)। आग से सींचा नहीं जा सकता है और न हवा से लिखा जा सकता है, अतः ये दोनों वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी अर्थ की दृष्टि से अयोग्य हैं, अतः वाक्य नहीं है, यहाँ पर अर्थ या प्रतीति सम्बन्धी बाधा है।

(ख) व्याकरण-मूलक बाधा या अयोग्यता-वाक्य यदि अर्थ की दृष्टि से ठीक हो और व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो तो वह वाक्य नहीं माना जाएगा। लिंग, विभक्ति, वचन, विशेषण आदि में 'व्याकरणिक अन्विति' या एकरूपता होनी चाहिए। निम्नलिखित वाक्यों में व्याकरण की दृष्टि से अयोग्यता है-1. सुशीला जाता है। 2. राम आती है। 3. मैं सुन्दरी पुस्तक देखता है। 4. राम ने बोला। इनमें लिंग, विभक्ति, विशेषण आदि की अयोग्यता है।

अंग्रेजों में व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता को Congruence या Concord कहते हैं। हिन्दी में व्याकरणिक एकरूपता को 'अन्विति' कहते हैं। अंग्रेजी के Congruence या Concord का अभिप्राय संस्कृत के 'योग्यता' शब्द में समाहित है।

(3) आसत्ति (संनिधि)- आसत्ति का अर्थ है-समीपता। इसको ही संनिधि भी कहते हैं। समीपता से अभिप्राय है कि वाक्य में प्रयुक्त पद लगातार या क्रमबद्ध रूप से उच्चरित हों। बीच में आवश्यकता से अधिक समय देने पर उन पदों का क्रम टूट जाएगा और वे वाक्य नहीं बनेंगे। 'मैं खाना खाता हूँ' में 'मैं खाना' आज बोला गया और 2 घंटे या 1 दिन बाद कहा गया 'खाता हूँ' तो समय का अधिक व्यवधान हो जाने से यह वाक्य नहीं बनेगा और न इससे कोई अर्थ निकलेगा। इसलिए समय की समीपता या सान्निध्य अनिवार्य है, जिससे वाक्य क्रमबद्ध हो सके।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा है। इसीप्रकार उक्त गुणों से युक्त वाक्यों के समूह को 'महावाक्य' नाम दिया है। सभी काव्य, महाकाव्य आदि ग्रन्थ 'महावाक्य' हैं। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यों से महावाक्य बनने में अंगागिभाव से अपेक्षा होने से पुनः समन्वय होकर एकवाक्यता मानी है।'

कुछ विद्वानों ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्वों का भी उल्लेख किया है-1. सार्थकता, 2. अन्विति। वस्तुतः ये दोनों तत्त्व 'योग्यता' में ही आ जाते हैं।

1. सार्थकता वाक्य में प्रयुक्त शब्द सार्थक होने चाहिए। पद तभी वाक्य बनते हैं, जब वे सार्थक हों। 'योग्यता' के द्वारा पदों की सार्थकता भी आवश्यक है। सार्थक पद ही अर्थ-प्रतीति की योग्यता रखते हैं। अतः सार्थकता का पृथक् उल्लेख अनावश्यक है।

2. अन्विति- अन्वय या अन्विति का अर्थ है-व्याकरण की दृष्टि से एकरूपता। लिंग, वचन, विभक्ति, विशेषण आदि समरूप हों। लिंगभेद, वचनभेद, विभक्तिभेद आदि से व्याकरण-सम्बन्धी अनुरूपता विच्छिन्न होती है, अतः अन्विति की आवश्यकता है। ऊपर 'योग्यता' में व्याकरणमूलक बाधा का अभाव भी अनिवार्य बताया गया है, अतः अन्विति या अन्वय को पृथक् मानना आवश्यक नहीं है। व्याकरण सम्बन्धी अन्विति को अंग्रेजी में Congruence, Concord, Agreement कहते हैं।

वाक्य में पद-विन्यास के गुण :

भारतीय आचार्यों ने वाक्य में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति गुणों का होना अनिवार्य बताया है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने वाक्य में पद-विन्यास सम्बन्धी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन्हें Features of Arrangement कहा जाता है। ये हैं-1. Selection (चयन), 2. Order (क्रम), 3. Modification (ध्वनि-परिवर्तन), 4. Modulation (स्वर-परिवर्तन)।

1. चयन (Selection)-चयन का अर्थ है- वाक्य में प्रयुक्त होने वाले उपयुक्त पदों का चयन। यह चयन दो प्रकार से होता है (क) अर्थ की दृष्टि से, (ख) रूप की दृष्टि से।

(क) अर्थ की दृष्टि से चयन- भाव और भाषा की दृष्टि से किस वाक्य में कौन सा शब्द या पद अत्यन्त उपयुक्त है, उसका ही प्रयोग करना। यह आर्थिक चयन है। आर्थिक-चयन मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। किस भाव के लिए कौन सा शब्द उपयुक्त होगा और किसका प्रयोग होना चाहिए, यह बौद्धिक प्रक्रिया में आएगा। उपयुक्त शब्दों

का ही प्रयोग हो, यह वक्ता की कामना रहती है। वह पर्यायवाची शब्दों में से अत्यन्त उपयुक्त शब्द का प्रयोग करता है। जैसे- स्त्रीवाचक शब्दों में युवती, नारी, रमणी, कामिनी, वामा, अबला, महिला आदि शब्द हैं। युवती में यौवन है, नारी में नर की संगिनी का भाव है। रमणी में रमणत्व या रति, कामिनी में कामभावना, वामा में वक्रता, अबला में असहायत्व मुख्य है। 'अबला का सौन्दर्य दर्शनीय है', यह वाक्य अतंगत एवं अनुपयुक्त है, क्योंकि दर्शनीय सौन्दर्य के लिए युवती, तरुणी या कामिनी शब्द उपयुक्त हैं। इसीप्रकार सूक्ष्मतापूर्वक चयन करना अर्थ-पक्ष है।

(ख) रूप की दृष्टि से चयन- इसका सम्बन्ध रचना से है। व्याकरण और प्रयोग की दृष्टि से वह शब्द उपयुक्त हो। यह योग्यता एवं अन्विति का कार्य है। 'न ऊधो का लेना, न माधो का देना', 'न घर का, न घाट का' मुहावरों में 'न' का प्रयोग शिष्ट-संमत है, पर 'मैं घर न जाऊँगा' में 'न' का प्रयोग अशुद्ध है, यहाँ पर 'नहीं' लगेगा- मैं घर नहीं जाऊँगा। इसीप्रकार व्याकरण सम्मत शब्दों का प्रयोग रूपात्मक चयन है।

2. क्रम (Order)- क्रम का अभिप्राय है कि भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के पदों को किस क्रम में रखा जाए, इसको पद-क्रम कहते हैं। सभी भाषाओं में पद-क्रम एक प्रकार का नहीं होता है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया पदक्रम का प्रकार है- कर्ता, कर्म, क्रिया। अंग्रेजी, चीनी भाषा आदि में पदक्रम है- कर्ता, क्रिया, कर्म। जैसे-

संस्कृत - रामः पुस्तकं पठति। हिन्दी - राम पुस्तक पढ़ता है।

अंग्रेजी- Ram reads the book.

संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन भी होता है, परन्तु वह सामान्य नियम नहीं है। संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन करने पर भी विभक्तियों के कारण कर्ता, कर्ता ही रहता है और कर्म, कर्म। जैसे- रामः रावणं हन्ति। रावणं रामः हन्ति। हन्ति रावणं रामः। इन तीनों में ही मारने वाला राम रहा और मरने वाला रावण।

संस्कृत, जर्मन, रूसी आदि शिष्ट योगात्मक भाषाओं में विभक्तियाँ शब्दों के साथ मिली रहती हैं। शब्दों का अर्थ निश्चित रहता है। अतः पदक्रम बदलने पर भी अर्थ में भेद नहीं आता।

सामान्यतया पदक्रम बदलने के दो कारण हैं-1. बल, 2. छन्द में प्रयोग। किसी शब्द पर बल देना होता है तो उसे पहले रख देते हैं। 'नहीं पढ़ूँगा' 'नहीं' पर बल है। छन्द की मात्राओं आदि की पूर्ति के लिए शब्दों को आगे-पीछे रखा जाता है।

3. ध्वनि-परिवर्तन (Modification)-वाक्य में दो ध्वनियों के समीप आने से उनमें कुछ ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। इसको 'सन्धि' कहते हैं। जैसे-जगत्+ईश=जगदीश, अचू+अन्त=अजन्त, रमा+ ईश=रमेश, पुनः+जन्म=पुनर्जन्म, मनस्+रथ=मनोरथ। इसीप्रकार महात्मा, महोदय, अध्यात्म आदि में ध्वनि-परिवर्तन है। बोलचाल में ध्वनि-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लिखते कुछ हैं, बोलते कुछ और हैं। जैसे- कब आओगे>कबाओगे। कब तक>कब्तक, जल लाना>जल्लाना, रखा>रक्खा, नारायण विहार>नरैना बिहार, पंडितजी>पंडिज्जो।

4. स्वर-परिवर्तन (Modulation)-वाक्यों में बलाघात आदि के कारण स्वरों में कहीं आरोह, कहीं अवरोह होता है। जिस ध्वनि पर बल देते हैं, वह उदात्त हो जाती है। उसे ऊँची आवाज (आरोह) के साथ बोलते हैं। जिस पर बल नहीं देते, वह मध्यम या निम्न ध्वनि में बोली जाती है। स्वर-परिवर्तन से ही उठा (उठ गया) और उठा' (उठावो), पढ़ा (पढ़ लिया) पढ़ा (पढ़ावो) में अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'आपने पुस्तक पढ़ ली है न', 'आपने खाना खा लिया है न' में निषेधार्थक 'न' (नहीं) शब्द उच्चारण में स्वर-भेद के कारण ही विधि-वाचक हो गया है। यहाँ 'न' का निषेध अर्थ नहीं है।

4.2.3 वाक्य और पदक्रम

1. वाक्य में पदक्रम- विश्व की अधिकांश भाषाओं के वाक्य में पद-क्रम निश्चित है। उसी क्रम से उस भाषा में वाक्यों का प्रयोग होता है। पद-क्रम की दृष्टि से विश्व की भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है-(क) परिवर्तनीय पदक्रम, (ख) अपरिवर्तनीय पद-क्रम।

(क) परिवर्तनीय पदक्रम-परिवर्तनीय पद-क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनमें वक्ता की इच्छा के अनुसार पद-क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसी भाषाएँ हैं-संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अरबी, फारसी आदि। इन शब्दों में विभक्तियाँ लगी होती हैं, अतः स्थान बदलने

पर भी कर्ता आदि का भेद ज्ञात होने से अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता। जैसे-रामः रावणं हन्ति (राम रावण को मारता है), रावणं हन्ति रामः।

(ख) अपरिवर्तनीय पद-क्रम-अपरिवर्तनीय पद-क्रम वाली वे भाषाएँ हैं, जिनके पद-क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इनके पद-क्रम में परिवर्तन से अर्थ में अन्तर हो जाता है, जैसे- चीनी भाषा। चीनी भाषा में पदक्रम है-कर्ता, क्रिया, कर्म।

हिन्दी और अंग्रेजी में प्रश्नवाचक शब्द (क्या, why, when आदि) वाक्य के आदि में आते हैं, परन्तु चीनी भाषा में अन्त में आते हैं। जैसे-

हिन्दी, अंग्रेजी आदि में भी सामान्यतया पदक्रम अपरिवर्तनीय रहता है।

2. वाक्य में स्वराघात- वाक्य में संगीतात्मक और बलात्मक दोनों प्रकार का स्वराघात प्राप्त होता है। संगीतात्मक स्वराघात से आश्चर्य, शंका, निराशा आदि का भाव व्यक्त किया जाता है। जैसे- 'वे चले गए' के अनेक अर्थ होंगे। संगीतात्मक स्वराघात वाक्य- सुर के रूप में होता है। किसी पद-विशेष पर बल देने से बलात्मक स्वराघात (Stress Accent) होता है। जैसे-मैं अभी जाऊँगा' में मैं, अभी और जाऊँगा में से जिस पर बल देंगे, वह अर्थ मुख्य होगा।

3. वाक्य में पद-लोप-प्रयोग और व्यवहार के आधार पर वाक्य में संक्षेप के लिए पदों का लोप हो जाता है। ऐसे स्थानों पर क्रिया का लोप रहता है और उसका अध्याहार (स्मरण) करके पूर्ण अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे- कुतः? (कहाँ से, कहाँ से आ रहे हो?) प्रयागात् (प्रयाग से, अर्थात् प्रयाग से आ रहा हूँ।)

इस प्रकार कर्ता, क्रिया आदि से हीन वाक्यों में यथायोग्य कर्ता, क्रिया आदि का अध्याहार कर लिया जाता है।

4. वाक्य और पदक्रम-विषयक तथ्य- वाक्य और पदक्रम के सम्बन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए-

(क) भाषा यदि दीर्घकाल से चली आ रही है तो उसकी वाक्य-रचना दो विभिन्न कालों में भिन्न हो सकती है।

(ख) वाक्य-रचना पर अन्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है। आधुनिक बोल-चाल की हिन्दी पर अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे-उसने कहा कि मैं प्रयाग नहीं जाऊँगा' के स्थान पर उसने कहा कि वह प्रयाग नहीं जाएगा।'

(ग) शिक्षा के प्रभाव के कारण शिक्षितों के द्वारा प्रयुक्त भाषा में कुछ कृत्रिमता रहती है, अतः शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षितों की भाषा में प्रयुक्त पदक्रम अधिक मान्य एवं विश्वसनीय होता है।

(घ) पदक्रम के विशिष्ट अध्ययन के लिए पद्यात्मक काव्यों आदि की अपेक्षा गद्य की भाषा अधिक उपयोगी होती है।

(ङ) पदक्रम के ज्ञानार्थ अनुवाद आदि की अपेक्षा मूल पाठ अधिक उपयुक्त होता है।

(च) पदक्रम के अध्ययन के लिए अलंकृत काव्यात्मक भाषा की अपेक्षा सरल सुबोध भाषा अधिक उपयुक्त है। इसमें भाषा का स्वाभाविक प्रवाह देखने को मिलता है।

(छ) पदक्रम के अध्ययन के लिए लिखित भाषा की अपेक्षा उच्चरित भाषा का अधिक महत्त्व है। उच्चरित भाषा में भाषा के स्वाभाविक रूप का साक्षात्कार होता है।

4.2.4 वाक्यों के प्रकार :

विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करने पर भाषा में प्रयुक्त वाक्यों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। इनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है-

1. आकृति-मूलक भेद
2. रचना-मूलक भेद
3. अर्थ-मूलक भेद
4. क्रिया-मूलक भेद
5. शैली-मूलक भेद

1. **आकृतिमूलक भेद-** विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक भेद (Morphological Classification) किया जाता है। प्रकृति (Root) और प्रत्यय (Affix) या अर्थतत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व किस प्रकार मिलते हैं, इसके आधार पर वाक्य भी चार प्रकार के मिलते हैं-

(क) अयोगात्मक (Isolating) वाक्य।

(ख) श्लिष्ट योगात्मक (Inflectional) वाक्य।

(ग) अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinative) वाक्य।

(घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक (Incorporating) वाक्य।

(क) अयोगात्मक वाक्य-अयोग का अर्थ है-प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का मिला हुआ न होना। अयोगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय अलग-अलग रहते हैं। इनमें कारक चिह्न आदि स्वतन्त्र शब्द होते हैं। चीनी भाषा अयोगात्मक भाषा है।

(ख) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य, ऐसे वाक्य में प्रकृति और प्रत्यय श्लिष्ट (मिले हुए, जुड़े) होते हैं। इनमें प्रकृति (शब्द, धातु) और प्रत्यय को अलग-अलग करना कठिन होता है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाएँ संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता आदि इसीप्रकार की हैं। संस्कृत के उदाहरण हैं-

वृक्षात् पत्रम् अपतत् (पेड़ से पत्ता गिरा)।

यहाँ वृक्ष+पंचमी एक.व., पत्र प्रथमा+एक.व., पत्+लङ् प्र.पु. एक.व. है। वाक्य में प्रकृति और प्रत्यय को सरलता से अलग नहीं किया जा सकता है।

(ग) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य- ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व अश्लिष्ट (घनिष्ठता से न मिलना) ढंग से मिले हुए होते हैं। प्रकृति और प्रत्यय जुड़े होने पर भी तिल-तण्डुलवत् (तिल और चावल की तरह) अलग-अलग देखे जा सकते हैं। तुर्की भाषा में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। जैसे-एल् इम् डे कि (मेरे हाथ में है, एल्-हाथ, इम् मेरा, डे में, कि होना) (El-im-de-ki)।

(घ) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य- ऐसे वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय इतने अधिक घनिष्ठ रूप में मिल जाते हैं कि पदों को पृथक् करना कठिन होता है। पूरा वाक्य एक शब्द-सा हो जाता है। ऐसे उदाहरण दक्षिण अमेरिका की चेरीकी भाषा, पेरीनोज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली बास्क भाषा आदि में मिलते हैं।

1. चेरीकी में-नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ)।
2. बास्क में-हकारत (मैं तुझे ले जाता हूँ)।

हिन्दी आदि की बोल-चाल की भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं-

1. भोजपुरी-सुनलेहलीहं (मैंने सुन लिया है)
2. मेरठ की बोली-उन्नेका (उसने कहा)
3. गुजराती-मकुंजे (मैंने यह कहा कि)

2. रचना-मूलक भेद- वाक्य की रचना या गठन के आधार पर वाक्य के तीन भेद होते हैं-

(क) सामान्य वाक्य (Simple Sentence)

(ख) मिश्र वाक्य (Complex Sentence)

(ग) संयुक्त वाक्य (Compound Sentence)

(क) सामान्य वाक्य- इसमें एक उद्देश्य होता है और एक विधेय अर्थात् एक संज्ञा और एक क्रिया। जैसे- वह पुस्तक पढ़ता है।

(ख) मिश्र वाक्य- इसमें एक मुख्य उपवाक्य होता है और उसके आश्रित एक या अनेक उपवाक्य होते हैं। जैसे-

1. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः (जिसके पास धन होता है, वह नर कुलीन होता है)।
2. यस्यार्थाः तस्य मित्राणि (जिसके पास धन होता है, उसके सभी मित्र होते हैं)।
3. जिसके पास विद्या है, उसका सर्वत्र आदर होता है।

(ग) संयुक्त वाक्य- इसमें एक से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। इनके साथ आश्रित उपवाक्य एक या अनेक होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं। जैसे-

1. जब मैं गुरु की कुटी पर पहुँचा तो वे स्नान करने नदी पर गए थे।
2. यदाऽहं गुरुगृहं प्रापम्, तदा स स्नानार्थं नदी गत आसीत्।

3. अर्थमूलक भेद- अर्थ या भाव (Mood) की दृष्टि से वाक्य के प्रमुख 8 भेद किए जाते हैं-

- | | |
|----------------------|---|
| 1. विधि-वाक्य | कृष्ण काम करता है। |
| 2. निषेध-वाक्य | कृष्ण काम नहीं करता है। |
| 3. प्रश्न-वाक्य | क्या कृष्ण काम करता है? |
| 4. अनुज्ञा-वाक्य | तुम करो! |
| 5. सन्देह-वाक्य | कृष्ण काम करता होगा। |
| 6. इच्छार्थक वाक्य | ईश्वर, तुम्हें सद्बुद्धि दे। |
| 7. संकेतार्थक वाक्य | यदि कृष्ण पढ़ता तो अवश्य उत्तीर्ण होता। |
| 8. विस्मयार्थक वाक्य | अरे तुम उत्तीर्ण हो गए! |

सुर आदि के आधार पर अन्य भेद भी किए जा सकते हैं।

4. क्रिया-मूलक भेद- वाक्य में क्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं-

(क) क्रियायुक्त वाक्य, (ख) क्रियाहीन वाक्य।

(क) क्रियायुक्त वाक्य- सामान्यतया सभी भाषाओं में एक वाक्य में एक क्रिया होती है। वह विधेय के रूप में होती है। अधिकांश वाक्य इसी कोटि में आते हैं।

जैसे-सःपुस्तकं पठति (वह पुस्तक पढ़ता है)। वाच्य (Voice) के आधार पर क्रियायुक्त वाक्य तीन प्रकार के होते हैं-1. कर्तृवाच्य, 2. कर्मवाच्य, 3. भाववाच्य।

1. **कर्तृवाच्य** में कर्ता मुख्य होता है। कर्ता में प्रथमा होती है। जैसे- रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है)। 2. **कर्मवाच्य** में कर्म मुख्य होता है, अतः कर्म में प्रथमा होती है और कर्ता में तृतीया। जैसे- मया पुस्तकं पठ्यते (मेरे द्वारा पुस्तक पढ़ी जाती है)। 3. **भाववाच्य** में क्रिया मुख्य होती है, कर्म नहीं होता। कर्ता में तृतीया होती है और क्रिया में सदा प्रथम पुरुष एकवचन होता है। जैसे- मया हस्यते (मेरे द्वारा हँसा जाता है), मया हसितम् (मैं हँसा)।

(ख) क्रियाहीन वाक्य- प्रचलन के आधार पर कई भाषाओं में क्रियाहीन वाक्यों का भी प्रयोग होता है। वहाँ क्रियापद गुप्त रहता है।

1. **प्रचलन-मूलक-** प्रचलन के आधार पर संस्कृत, रूसी, बंगला आदि में सहायक क्रिया के बिना भी वाक्यों का प्रयोग होता है। क्रिया अन्तर्निहित (Understood) मानी जाती है। हिन्दी, अंग्रेजी में सामान्यतया सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है। जैसे-

संस्कृत- इदं मम गृहम् (यह मेरा घर है)

रूसी- एता मोय दोम (यह मेरा घर है)

बंगला- एइ आमार बाड़ी (यह मेरा घर है)

2. प्रश्न-वाक्य-प्रश्न वाक्यों में प्रश्न और उत्तर दोनों स्थलों पर या केवल उत्तर-वाक्य में क्रिया नहीं होती। जैसे-

प्रश्न-कस्मात् त्वम् (कहाँ से?) उत्तर प्रयागात् (प्रयाग से)

यहाँ पर पूरा प्रश्न वाक्य होगा तुम कहाँ से आ रहे हो? उत्तर-मैं प्रयाग से आ रहा हूँ। प्रयत्नलाघव के कारण क्रियाहीन वाक्य का प्रयोग होता है।

3. मुहावरों में लोकोक्तियों या मुहावरों में क्रियाहीन वाक्यों का प्रयोग होता है। जैसे- यथा राजा तथा प्रजा (जैसा राजा वैसी प्रजा), गुणाः पूजास्थानम् (गुण पूजा के स्थान हैं), प्रज्ञाहीनः अन्ध एव (बुद्धिहीन अन्धा है), घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध, आम के आम गुठली के दामः सत्यं शिवं सुन्दरम्:, जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ।

4. विज्ञापनों, समाचार-पत्रादि के शीर्षकों में बूढ़े से जवान', 'नक्कालों से सावधान', 'देश में दुर्भिक्ष', 'युवती पर हमला', 'हिन्दुओं सावधान', 'इस्लाम खतरे में' आदि।

5. आतंक, भय, विस्मय आदि के सूचक पदों में आग, चोर-चोर!, हाय दुर्भाग्य!, बाढ़-बाढ़!, भूकम्प!

5. शैलीमूलक भेद-शैली के आधार पर वाक्यों के तीन भेद किए जाते हैं-1. शिथिल वाक्य, 2. समीकृत, 3. आवर्तक।

वाक्य का विभाजन :

विश्व की समस्त भाषाओं की वाक्य-रचना-पद्धति एक प्रकार की नहीं है, अतः उनके वाक्यों का विभाजन भी एक प्रकार से नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा में कर्ता, कर्म, क्रिया, विशेषण आदि का स्थान निश्चित नहीं है। संस्कृत और हिन्दी में सामान्यतया क्रम है-1. कर्ता, 2. कर्म, 3. क्रिया। कर्ता के विशेषण कर्ता से पूर्व और

क्रिया-विशेषण क्रिया से पूर्व आते हैं। अंग्रेजी में क्रम भेद है। अंग्रेजी में है-कर्ता, क्रिया, कर्म।

संस्कृत

हिन्दी

अंग्रेजी

बालकः पुस्तकं पठति

बालक पुस्तक पढ़ता है

The boy reads the book

संस्कृत में क्रम बदलकर भी बोला जाता है पुस्तकं पठति बालकः, पठति बालकः पुस्तकम्। हिन्दी में भी अब क्रमभेद मिलता है। जैसे कह रहे थे तुम। उठा लो बोझ। पढ़ ली न तुमने पुस्तक? आ गए धूर्ताधिराज। न आए बादल, न पड़ी वर्षा।

पद-क्रम की इन सूक्ष्मताओं के होते हुए भी सामान्यतया भाषाओं के वाक्यों को दो भागों में विभक्त किया जाता है-

1. उद्देश्य (Subject)-जिसके विषय में कुछ कहा जाता है। जैसे-बालक आदि।
2. विधेय (Predicate)-जो कुछ कहा जाता है। जैसे-पढ़ता है, जाता है, आदि।

अंग्रेजी के भाषाशास्त्री इसे 'Actor-Action Construction' (कर्ता-क्रिया वाली रचना) कहते हैं। कर्ता के स्थान पर आने वाले शब्दों को 'Nominative Sub-stantive Expressions' (संज्ञा स्थानीय शब्द) कहते हैं। क्रिया के स्थान पर आने वाले शब्दों को 'Finite Verb Expression' (क्रिया स्थानीय शब्द) कहते हैं। क्रिया शब्द क्रिया का ही काम करते हैं, परन्तु संज्ञाशब्द 'विधेय' के पूरक के रूप में भी आ सकते हैं। जैसे-वह है राम। मैं हूँ मोहन।

उद्देश्य को दो भागों में बाँटा जाता है-1. कर्ता, 2. कर्ता का विस्तार।

विधेय के अनेक भाग हैं- कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों का विस्तार, क्रिया, क्रिया विशेषण, पूरक, पूर्वकालिक क्रिया आदि।

रचना के आधार पर वाक्य के तीन भेद किए जाते हैं-

- (क) सामान्य वाक्य (Simple Sentence)
- (ख) मिश्र वाक्य (Complex Sentence)
- (ग) संयुक्त वाक्य (Compound Sentence)

इनका स्पष्टीकरण पूर्व में दे दिया गया है।

वाक्य के निकटतम अवयव (Immediate Constituents)

वाक्य में प्रयुक्त पद या शब्द, जो स्थान की दृष्टि से नहीं, अपितु अर्थ की दृष्टि से निकट या समीप होते हैं, उन्हें निकटतम अवयव कहा जाता है। संस्कृत का सुभाषित है-

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।

अर्थतो ह्यसमानानाम् आनन्तर्यमकारणम्॥

जिसका, जिससे अर्थमूलक सम्बन्ध है, वह दूर होने पर भी उसका ही है। अर्थ से असंबद्धों की समीपता भी सामीप्य का कारण नहीं। वस्तुतः अर्थ की समीपता ही समीपता है, स्थान की समीपता, समीपता नहीं है। जैसे-

Is he coming? (क्या वह आ रहा है?)

इसमें स्थान की दृष्टि से Is और coming दूर है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से समीप है, अतः Is coming निकटतम अवयव है। He और coming समीप होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दूर होने से निकटतम अवयव नहीं माने जाते हैं।

भाषा में निकटतम अवयवों की अन्विति होने से ही शुद्ध अर्थ का बोध होता है। वाक्यार्थ-बोध की दृष्टि से निकटतम अवयवों का बहुत अधिक महत्त्व है। अतएव संस्कृत या हिन्दी के पद्यों में अन्वय बताने की आवश्यकता होती है। अन्वय बताने का अभिप्राय है कि इस पद का इस पद से निकटतम सम्बन्ध है, अतः इन्हें पास रख कर श्लोक या पद्य का अर्थ ठीक समझा जा सकता है। जैसे-

संस्कृत-स सांयात्रिकः, यो व्यापारार्थं विदेशम् अगच्छत्, ह्यो गृहं प्रत्यागतः।

हिन्दी-वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था, कल घर आ गया।

इसमें सांयात्रिकः (समुद्री व्यापारी) प्रारम्भ में है और प्रत्यागतः (आ गया, लौट आया) अन्त में है, ये दोनों अर्थ की दृष्टि से निकटतम अवयव हैं। इस वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार होगा-

(क) उद्देश्य- सः सांयात्रिकः, यः व्यापारार्थं विदेशं अगच्छत्। (वह समुद्री व्यापारी, जो व्यापार के लिए विदेश गया था) इसमें जो 'व्यापार के लिए विदेश गया था' यह संज्ञा उपवाक्य है। व्यापारी विशेष्य है, 'वह' और 'समुद्री' उसके विशेषण हैं।

(ख) विधेय- 'कल घर आ गया।' क्रिया आ गया, घर सकर्मक क्रिया 'आ गया' का कर्म है, 'कल' क्रिया विशेषण है। निकटतम अवयवों का ठीक ज्ञान हो जाने पर वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है।

प्रत्येक भाषा के वाक्य-गठन में कुछ विशेषताएँ होती हैं, उन्हें उस भाषा के वक्ता और श्रोता जानते हैं, अतः उन्हें उनका अर्थ स्पष्ट होता है। अतएव दूसरी भाषा से अनुवाद करने में शाब्दिक अनुवाद न करके भावात्मक अनुवाद अपेक्षित होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में 'मरना' अर्थ अनेक प्रकार से प्रकट किया जाता है। दूसरी भाषा में उसका शाब्दिक अनुवाद अस्पष्ट या अनर्थकारी होगा। जैसे-

संस्कृत-सः पंचत्वं गतः, स दिवं ययौ, स प्राणान् अत्यजत्, स स्वर्गं ययौ, स भस्मावशेषोऽभूत् (वह मर गया)।

हिन्दी-वह स्वर्गवासी हो गये उनका देहावसान हो गया उनका जीवन-लीला समाप्त हुई वे वैकुण्ठवासी हो गये वे अब नहीं रहे, वे चल दिए।

अंग्रेजी-He died; He is dead; His life came to an end.

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा में अपनी भावाभिव्यक्ति का प्रकार पृथक् या स्वतन्त्र होता है। 'उसकी बातों से मेरा सिर चक्कर खाने लगा', 'चक्कर खाने' का अनुवाद अंग्रेजी 'Eating Circle' न होकर 'I Am perturbed by his talks' अनुवाद किया जाएगा। अतः अर्थाभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक भाषा के वाक्य-गठन का ज्ञान अपेक्षित है।

कुछ स्थानों पर प्रकरण के अनुसार विशेषणों का अर्थ समझा जाता है। जैसे-वे सुन्दर फल और फूल, वे मनोहर कुमारियाँ और कुमार, खोटा पैसा और बेटा, कड़वी दवा और बात, शुद्ध हृदय मन और वचन। शुद्धं हृदयं मनो वचनं च, कटु औषधं वचनं च, सरला नारी गतिश्च। अंग्रेजी में Old book dealer. इनमें दिए हुए विशेषण सुन्दर, मनोहर, शुद्ध, कटु, वसक आदि केवल पहले शब्द के साथ भी लग सकते हैं और

प्रकरण के अनुसार दूसरे शब्द के साथ भी। जैसे सुन्दर फल एवं फूल, सुन्दर फल और सुन्दर फूल। पहले अर्थ में 'सुन्दर' केवल फल का विशेषण है, फूल का नहीं। दूसरे अर्थ में दोनों का विशेषण है। इसीप्रकार Old book dealer के दो अर्थ हो सकते हैं 1. पुरानी किताबों को बेचने वाला, 2. पुराना पुस्तक विक्रेता। पहले अर्थ में वसक पुस्तक का विशेषण है और दूसरे अर्थ में विक्रेता का।

वक्ता के स्वभाव का ज्ञान भी निकटतम अवयव के निर्धारण में सहायक होता है। जैसे 'मैं अभी आया था' के स्थान पर 'मैं आया था, अभी' प्रयोग। निकटतम अवयव के ज्ञान के लिए 'वाक्य-सुर' का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। एक ही वाक्य कहने के दोन के आधार पर सामान्य, प्रश्नवाचक, विस्मयवाचक आदि हो जाता है। जैसे- हाथ उठा (ऊँपर उठा), हाथ उठा (हाथ ऊपर उठाओ), चोर भगा (भाग गया), चोर भगा' (चोर को भगावो)।

4.2.5 वाक्य में परिवर्तन की दिशाएँ

विकास-क्रम के अनुसार विश्व की प्रत्येक भाषा में परिवर्तन होते हैं। भाषा में परिवर्तन के कारण वाक्यों के गठन और प्रयोग में भी परिवर्तन होता है। यदि संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत में पद-क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है-पुस्तकं पठ, पठ पुस्तकम्, गोविन्दं भज, भज गोविन्दम्, परन्तु हिन्दी में काव्य-प्रयोगों आदि को छोड़कर सामान्यतया पद-क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पद-क्रम निश्चित है- कर्ता, कर्म, क्रिया। राम गाँव जाता है, के स्थान पर गाँव राम जाता है, नहीं कह सकते। संस्कृत के तिङन्त धातुरूपों में तीनों लिंगों में क्रिया एक ही रहती है-बालकः पतति (गिरता है), बालिका पतति, पत्रं पतति, परन्तु हिन्दी में लिंग-भेद से क्रिया में भेद होता है- बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

वाक्य में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ ये हैं-

(1) पदक्रम में परिवर्तन- हिन्दी में नवीनता के लिए पदक्रम में कुछ नये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। पहले 'मात्र' का प्रयोग संबद्ध शब्द के बाद होता था, अब पहले होने लगा है। जैसे मानवमात्र, प्राणिमात्र, एक रुपयामात्र के स्थान पर मात्र मानव, मात्र प्राणी, मात्र एक रुपये के लिए, आदि। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व होता है, परन्तु

नवीनता के लिए विशेष्य के बाद भी विशेषण का प्रयोग होता है। जैसे- काला आदमी, प्राकृतिक दृश्य, उस महात्मा की जीवन लीला, सूअर का बच्चा, निर्धनता का अभिशाप के स्थान पर आदमी काला, दृश्य प्राकृतिक, जीवनलीला उस महात्मा की जीवन लीला, बच्चा सूअर का, जैसे प्रयोग प्रचलित हो गए हैं।

(2) **अन्वय में परिवर्तन-** संस्कृत में विशेष्य-विशेषण में लिंग और वचन की अन्विति अनिवार्य है- शोभनः बालकः, शोभनौ बालकौ, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पं, विद्वान् शिष्यः, विदुषी शिष्या। हिन्दी में प्रारम्भ में इसी आधार पर पूज्य पिताजी, पूज्या माताजी, सुन्दर बालक, सुन्दरी कन्या आदि प्रयोग प्रचलित थे, परन्तु अब इस भेद को हटाकर केवल पुँलिंग विशेषण का ही प्रयोग किया जाता है। पूज्य पिताजी, पूज्य माताजी, सुन्दर कन्या आदि।

(3) **अधिक पद-प्रयोग-** अज्ञान आदि के कारण वाक्य में कुछ अधिक पदों का प्रयोग भी किया जाता है। जैसे-‘फिजूल’ (व्यर्थ) के स्थान पर ‘बेफिजूल’ ‘दरअसल’ (वस्तुतः) के स्थान पर ‘दरअसल में’ घर जाता हूँ>घर को जाता है, मुझे>मेरे को, वह दुर्जन>वह दुर्जन व्यक्ति, श्रेष्ठ>श्रेष्ठतम, सौन्दर्य>सौन्दर्यता।

(4) **पद या प्रत्यय का लोप-** संक्षेप या प्रयत्नलाघव के लिए कहाँ-कहाँ पर पद या प्रत्यय का लोप कर दिया जाता है। जैसे- अहं गच्छामि के स्थान पर ‘गच्छामि’ त्वं पठ, त्वं लिख, पठ- लिख। ‘त्वं कुतः आगच्छसि’ को कुतः ‘मैं नहीं पढ़ता हूँ’ को ‘मैं नहीं पढ़ता’ ‘वह बीमार उठ नहीं सकता है और न बैठ सकता है’ को ‘वह बीमार उठ-बैठ नहीं सकता’।

(5) **कोष्ठक और डैश का प्रयोग-**अर्थ की स्पष्टता के लिए कहीं-कहीं पर कोष्ठक() और डैश (-) का प्रयोग किया जाता है। जैसे-

(क) राम (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश का नाश किया।

(ख) राम जमदग्नि पुत्र, परशुराम का क्रोध असह्य था।

(6) **आदरार्थक बहुवचन-आदर या महत्त्व दिखाने के लिए एक के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होता है।** जैसे ‘गुरुः पूज्यः>‘गुरुवः पूज्याः’। ‘अत्रभवान्’ को अत्रभवन्तः। ‘राम वन गया’ को ‘राम वन गए’। इसीप्रकार ‘आपके शुभदर्शन हुए’, ‘आप कब पधारे’, ‘हमारा (मेरा) अनुरोध है’।

(7) प्रत्यक्ष (Direct) और अप्रत्यक्ष (Indirect) कथन अंग्रेजी के वाक्यगठन के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी तदनुरूप वाक्यों का प्रयोग होने लगा है। 'शीला ने कहा कि मैं कल नहीं आऊँगी' के स्थान पर 'शीला ने कहा कि वह कल नहीं आएगी।'

(8) कारक के लिए अर्धविराम (Comma)- अंग्रेजी के अनुसरण पर हिन्दी में भी संक्षेप के लिए कारक चिह्नों के स्थान पर अर्ध-विराम (कॉमा) का प्रयोग होता है। जैसे-

'प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति' के स्थान पर 'कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय'। इसीप्रकार 'अध्यक्ष, लोकसभा' 'प्रधानमन्त्री, भारत सरकार' आदि।

4.2.6 वाक्य-परिवर्तन के कारण (Causes of Syntactical Changes)

1. अन्य भाषाओं का प्रभाव विश्व की विविध भाषाओं के परस्पर सम्पर्क के कारण भाषाओं के वाक्य-गठन पर प्रभाव पड़ता है। भारत में यवनों के आगमन के साथ अरबी, फारसी भाषाओं का आगमन हुआ और अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी का आगमन हुआ। दोनों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा है। वाक्यों में 'कि' और 'चूँकि' का प्रयोग फारसी का प्रभाव है। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में 'कि' वाले प्रयोग नहीं मिलते हैं। संस्कृत में 'कि' के लिए 'यत्' निपात है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन वाले वाक्यों में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। 'सीता ने कहा कि मैं भी वन जाऊँगी' के स्थान पर 'सीता ने कहा कि वह भी वन जाएगी। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी में भी बड़े-बड़े वाक्यों की रचना होने लगी है। संस्कृत में विशेषण बहुल लम्बे वाक्य दूसरे ढंग के हैं। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण क्रिया के बाद कर्म का प्रयोग भी कुछ चलने लगा है 'वह पुस्तक पढ़ता है' के स्थान पर 'वह पढ़ता है पुस्तक'। इसीप्रकार के वाक्य हैं- मैं पीता हूँ चाय, मैं लाया हूँ गुड़िया, मैं खाता हूँ मक्खन, आदि।

संस्कृत में किसी अन्य के कथन को 'इति' बाद में लगाकर कहा जाता है। इसके लिए अब हिन्दी में इन्वर्टेड कामा का प्रयोग अंग्रेजी की देन है। स तथास्तु इत्युक्त्वा अन्तर्हितः (वह 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गए)।

2. विभक्तियों का घिस जाना- संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ संयोगात्मक (Synthetical) थीं। विकासक्रम के अनुसार वे वियोगात्मक (Analytical) हो

गई। इसके परिणामस्वरूप वाक्य-रचना में अन्तर आ गया। विभक्तियों, प्रत्ययों का कार्य परसगों, सहायक क्रिया आदि से लिया जाने लगा। संयोगात्मक अवस्था में पदक्रम में परिवर्तन हो सकता था। कर्ता, कर्म, क्रिया को आगे-पीछे रख सकते थे, परन्तु वियोगात्मक अवस्था में पदक्रम निश्चित हो जाता है, जैसा कि हिन्दी, अंग्रेजी आदि में विद्यमान है। इसमें कर्ता और कर्म का स्थान बदलने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हिन्दी में ने (कर्ता), पर (उपरि) आदि घिसे हुए कारक चिह्न हैं।

3. **बलाघात**— बलाघात के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन हो जाता है। 'पराजय जैसी चीज नहीं जानता,' के स्थान पर 'पराजय, मैं नहीं जानता'।

4. **स्पष्टता**— स्पष्टता के लिए वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है। इसके लिए कोष्ठक य डैश का प्रयोग होता है। 'अमरत्व (मोक्ष की कामना) मानव जीवन का लक्ष्य है'।

5. **मनःस्थिति**— वक्ता की मानसिक स्थिति के कारण वाक्य-गठन पर प्रभाव पड़ता है। शोक, दुःख, युद्धकाल, विपत्ति, संघर्ष आदि के समय मनःस्थिति क्षुब्ध होती है, अतः ऐसे समय में सरल, स्पष्ट, तीखी और गंभीर भाषा का प्रयोग होता है। ऐसे समय में अलंकृत पदावली नहीं चलती। अन्य अवसरों पर अलंकृत भाषा का ही महत्त्व है।

6. **नवीनता की प्रवृत्ति**— नवीनता की प्रवृत्ति के कारण वाक्य-गठन में परिवर्तन होता है। जैसे— 'मात्र' का प्रयोग। 'पुस्तक का मूल्य दो रुपए मात्र' के स्थान पर 'पुस्तक का मूल्य मात्र दो रुपए।' विशेष्य के बाद विशेषण का प्रयोग 'दुकान गरीब की' आदि।

7. **अज्ञानता**— अज्ञानता के कारण अशुद्ध वाक्य प्रयोग। श्रेष्ठ के स्थान पर 'श्रेष्ठतम', 'महत्ता' को 'महानता', 'विद्वत्ता' को 'विद्वानता', 'दर असल' के स्थान पर 'दर असल में'।

8. **अनुकरण**— अन्य भाषाओं के अनुकरण के कारण वाक्य-रचना में परिवर्तन होता है। अंग्रेजी वाक्य-रचना के अनुकरण पर हिन्दी में भी तदनु रूप रचना इसका ही परिणाम है। 'रमा ने कहा कि मैं कल पढ़ने नहीं जाऊँगी' के स्थान पर 'रमा ने कहा कि वह कल पढ़ने नहीं जाएगी'।

9. परम्परावाद- संस्कृत में प्राचीन परम्परा के प्रति अनुराग है और हिन्दी में परम्परावादिता के विरुद्ध संघर्ष है। इसके फलस्वरूप वाक्य-रचना में भी अन्तर होता है। संस्कृत में विशेष्य के अनुसार विशेषण में भी लिंग-वचन होते हैं। हिन्दी में विशेषण में अन्तर नहीं किया जाता है। हिन्दी में वर-वधू आदि दोनों को आयुष्मान् हो, संबोधन में भी प्रिया, प्रेयसी, प्रियतमा आदि, विद्वान् शिष्य एवं शिष्याएँ आदि। संस्कृत के विद्वान् वर को आयुष्मान् हो, वधू को आयुष्मती हो, कहेंगे। संबोधन में प्रिये, प्रेयसि, प्रियतमे, कहेंगे। वे विद्वान् शिष्य और विदुषी शिष्याएँ, कहेंगे। वे पूज्य पिताजी, पूजनीया माताजी, लिखेंगे।

इसीप्रकार आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग वाक्यों में मिलता है। 'राम वन गए।' 'उनका राज्याभिषेक हुआ', 'गुरुजी आ गए।'

4.3 अर्थविज्ञान (Semantics)

विकासोऽर्थस्य तद्भेदाः, परिवृत्तेश्च हेतवः।

एकानेकार्थसंज्ञानम्, अर्थविज्ञानमिष्यते।।

(अर्थात् अर्थविकास, अर्थविकास के भेद, अर्थ-परिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, अर्थविज्ञान होता है।)

4.3.0 अर्थविज्ञान क्या है? :

'शब्द शरीर है और अर्थ' उसकी आत्मा है।' ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान भाषा के शरीर हैं। इनमें भाषा के शरीर या बाह्यरूप का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। अर्थ आत्मा है। अर्थविज्ञान में शब्दार्थ के आन्तरिक पक्ष का विवेचन, विश्लेषण किया जाता है। अर्थ क्या है? अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है? संकेतग्रह कैसे होता है? मन में बिम्ब-निर्माण कैसे होता है? बिम्ब से अर्थबोध की प्रक्रिया आदि भाषा के आन्तरिक पक्ष हैं। अर्थविज्ञान में शब्दों के अर्थ में विकास, अर्थविकास की दिशाएँ, अर्थपरिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, संकेतग्रह के साधन आदि अर्थविज्ञान के बाह्य पक्ष हैं।

जिस प्रकार शरीर के ज्ञान के बाद आत्मा का ज्ञान अपेक्षित है, उसी प्रकार ध्वनि, पद, वाक्य के ज्ञान के बाद अर्थरूपी आत्मा का ज्ञान अपेक्षित एवं अनिवार्य है। अतएव भर्तृहरि ने वाक्यार्थरूपी प्रतिभा को आत्मा कहा है- यन्नेत्रः प्रतिभात्माऽयं भेदरूपः प्रतीयते। (वाक्यप. 1/118)

अर्थविज्ञान का नामकरण :

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अर्थसम्बन्धी विवेचन को अर्थविज्ञान नाम दिया है।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।

ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥ (महाभारत, वनपर्व 2/16)

यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते।

शब्दज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ॥ (श्लोकवार्तिक, शब्दपरिच्छेद-13)

भाषाविज्ञान के अर्थ-विषयक विवेचन को आजकल अंग्रेजी में Semantics (सीमेन्टिक्स) कहते हैं। यह नाम फ्रेंच विद्वान् मिशेल ब्रेआल (Michel Bre'al) द्वारा प्रचारित हुआ है। हिन्दी में इसके लिए अर्थविचार, शब्दार्थविचार, शब्दार्थ-विज्ञान आदि नाम भी प्रचलित रहे हैं। संप्रति अर्थविज्ञान नाम ही सर्वप्रिय है। अंग्रेजी में इसके लिए प्रारम्भ में अनेक नाम चले। जैसे Rhematology (हेमेटोलॉजी), Semasiology (सीमे-सिआलॉजी), Rhematics (रहेमेटिक्स), Sematology (सीमेटोलॉजी) आदि। एक दर्जन से अधिक नामों में से अब Semantics (सीमेन्टिक्स) नाम ही शेष रह गया है।

4.3.1 अर्थविज्ञान का इतिहास :

विषय के रूप में 'अर्थविज्ञान' नया विषय है। प्रारम्भ में अनेक भाषाशास्त्रियों ने इसे दर्शन का विषय कहकर भाषाविज्ञान में रखने पर आपत्ति की थी। परन्तु अब यह भाषाशास्त्र का एक अंग बन गया है। भारतवर्ष में शब्द और अर्थ का विवेचन दर्शनशास्त्र का विषय रहा है। न्यायदर्शन और मीमांसादर्शन में शब्दशक्ति, शब्दार्थज्ञान, स्वतः प्रामाण्य-परतः प्रामाण्य आदि का गहन विवेचन हुआ है। वैदिक साहित्य में इन्द्र, वृत्र, वृत्रहा, नदी, उदक, तीर्थ आदि शब्दों की निरुक्ति (Etymology) मिलती है। ऋग्वेद में अर्थ के महत्त्व पर कुछ मन्त्र हैं। यास्ककृत निरुक्त ही अर्थविज्ञान का सर्वप्रथम

भारतीय ग्रन्थ है, जिसमें निर्वचन के नियम, अर्थ का महत्त्व, मन्त्रार्थ की विधि, प्रकरण आदि का महत्त्व बताया गया है। इसके पश्चात् पतंजलिकृत 'महाभाष्य' और भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' इस विषय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। अर्थविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले पाश्चात्य विद्वान् हैं- फ्रेंच विद्वान् मिशेल ब्रेआल, जर्मन विद्वान् पाल, के. रीजिंग, ए. बेनरी, पोस्टगेट, ब्रुगमान, स्वीट आदि।

4.3.2 अर्थ का महत्त्व :

आचार्य पाणिनि ने भाषा का सार 'अर्थ' माना है। अतएव 'अर्थवान्' या सार्थक शब्दों को ही 'प्रातिपदिक' (मूल संज्ञाशब्द या प्रकृति) माना है-

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकाम्। (अष्टा-1/2/45)

यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त अर्थात् निर्वचन, निरुक्ति (Etymology) का आधार ही अर्थ को माना है। अर्थ-ज्ञान के बिना निर्वचन असंभव है।

अर्थनित्यः परीक्षेत। (निरुक्त 2/1)

यास्क ने कई स्थानों पर अर्थ का महत्त्व घोषित किया है। उनका कथन है कि जो वेद पढ़कर, उसका अर्थ नहीं जानता, वह ढूँढ़ है, भारवाहक पशु है। जो अर्थ जानता है, उसे ही समस्त कल्याण प्राप्त होता है। वही ज्ञान की ज्योति से पापों को नष्ट करके ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। (निरुक्त 1/18)

पतंजलि ने भी महाभाष्य में यही भाव व्यक्त किया है कि अर्थज्ञान के बिना जो शब्द मूलपाठ के रूप में दुहराया जाता है, वह उसी प्रकार ज्ञान को प्रज्वलित नहीं करता है, जैसे बिना अग्नि में डाला हुआ सूखा ईंधन'।

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते।

अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्वलति कर्हिचित्।। (महाभाष्य आ. 1)

ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'अर्थ' को अजेय योद्धा बताया गया है और अर्थज्ञानहीन को बिना दूधवाली गाय एवं फल-फूलहीन वाणी का संग्रहकर्ता बताया है-

उत्त त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ (ऋ. 1/71/5)

यास्क ने भी अर्थ को वाणी का फल-फूल माना है।

अर्थ वाचः पुष्पफलमाह। (निरुक्त 1/2)

इससे स्पष्ट है कि भाषा की सार्थकता अर्थ से है। अर्थ ही भाषा का सर्वस्व है। अर्थहीन भाषा सन्तानहीन स्त्री के तुल्य है।

अर्थ का लक्षण : अर्थ के अनेक लक्षण दिए गए हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में 18 और ओगडेन एवं रिचार्डस ने Meaning of Meaning में अर्थ के 16 लक्षण दिए हैं। भर्तृहरि ने संक्षेप में अर्थ का सुन्दर लक्षण दिया है कि 'शब्द के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ही अर्थ कहते हैं।' अर्थ का अन्य लक्षण नहीं है।

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।

तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥ (वाक्य. 2/328)

इससे स्पष्ट है कि अर्थ का सामान्य लक्षण 'प्रतीति' है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को सुनकर कुछ अर्थ समझता है। उसकी यह व्यक्तिगत अनुभूति 'प्रतीति' ही उसका अर्थ होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा में एक ही अर्थ के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं। शब्दों के अर्थ स्वाभाविक नहीं, अपितु सांकेतिक एवं यद्च्छामूलक हैं। एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ होते हैं। प्रत्येक भाषा का वक्ता और श्रोता अपनी भाषा में संकेतित अर्थ को ही ग्रहण करता है।

अर्थज्ञान कैसे होता है? :

ज्ञान, प्रत्यय या प्रतीति भाषा का मानसिक पक्ष है। मन में विचार उठते हैं, वक्ता शब्दों के द्वारा उन्हें प्रेषित करता है, श्रोता कान से उन शब्दों को सुनता है, मन को उनके अर्थों की प्रतीति होती है। इस प्रकार भाषा का उद्गम और अर्थ-ज्ञान (अर्थागम) रूपी परिणति दोनों भाषा के मानसिक पक्ष हैं। भाषा वक्ता से लेकर श्रोता तक, आदि से अन्त तक, मानसिक पक्ष में अनुस्यूत है।

अर्थज्ञान के दो साधन अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष या प्रतीति के रूप में होता है। इस प्रतीति या ज्ञान के दो साधन हैं (1) आत्म प्रत्यक्ष (स्व-प्रत्यक्ष या आत्म-अनुभव), (2) पर-प्रत्यक्ष (पर-अनुभव)।

(1) आत्म-प्रत्यक्ष-आत्म-प्रत्यक्ष का अर्थ है- स्वयं किसी वस्तु आदि को अपनी आँखों आदि से देखना या अनुभव करना। जैसे- मनुष्य, स्त्री, गाय, अश्व, पक्षी आदि को देखकर स्वयं ज्ञान प्राप्त करना। इसीप्रकार संतरा, नीबू आदि का रस स्वयं चखकर उनके रस का अनुभव करना। यह आत्म-प्रत्यक्ष है। आत्म-प्रत्यक्ष स्पष्ट, अधिक प्रामाणिक और स्थायी होता है। आत्म-प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं (क) बाह्य-इन्द्रिय-जन्य, (ख) अन्तरिन्द्रिय-जन्य।

(क) बाह्य-इन्द्रिय-जन्य- बाह्य इन्द्रियाँ हैं-आँख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा। आँख से देखी हुई वस्तु, नाक से सूँची हुई गन्ध, कान से सुना हुआ शब्द, त्वचा से छुआ हुआ पदार्थ और जीभ से चखा हुआ स्वाद, बाह्य-इन्द्रिय-जन्य ज्ञान या अनुभव है। इनका ज्ञान और इनकी प्रामाणिकता इन्द्रियों ने स्वयं प्रत्यक्ष की है।

(ख) अन्तरिन्द्रिय-जन्य ज्ञान- अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण मन है। कुछ सूक्ष्म चीजों का ज्ञान बाह्य इन्द्रियाँ नहीं कर पाती, उनका ज्ञान मन करता है। जैसे-सुख या दुःख का अनुभव, शोक और क्रोध का अनुभव, भूख-प्यास का अनुभव आदि। शोक, दुःख, हर्ष, क्षोभ आदि का अनुभव व्यक्ति स्वयं मन से करता है। यह अन्तरिन्द्रिय-जन्य आत्म-प्रत्यक्ष है। अन्तरिन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष सूक्ष्म होने के कारण कम स्पष्ट और कुछ अंश तक अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय होता है।

(2) पर-प्रत्यक्ष- पर प्रत्यक्ष का अर्थ है, जिसे पर या दूसरे ने देखा है। जिन देशों, स्थानों, पर्वतों, समुद्रों आदि को हमने स्वयं नहीं देखा है, उनका ज्ञान हम दूसरों के प्रत्यक्ष से करते हैं, जिन्होंने स्वयं उसे देखा है। पर-प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम भूगोल में सभी देशों, नगरों, नदियों, समुद्रों, दर्शनीय स्थलों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर-प्रत्यक्ष में ही आप्तवाक्य, आप्त-वचन या प्रामाणिक व्यक्तियों के कथन भी आते हैं। अतएव वेद, शास्त्र, स्मृतियों आदि से हम पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, ईश्वर, जीव, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

4.3.3 शब्द और अर्थ का सम्बन्ध :

संकेतग्रह-शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। 'गाय' कहने से 'गाय' पशु अर्थ ही क्यों लिया जाता है? अश्व आदि अन्य पशु क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ (वस्तु) विशेष का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है, यह संकेतग्रह पर निर्भर है। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक भाषा में कोई शब्द किसी अर्थ को संकेतित करता है। प्रत्येक भाषा में इस शब्द का यह अर्थ होगा, यह संकेतित है। यह संकेत सामान्यतया स्वेच्छा-जन्य या यादृच्छिक (यदृच्छा जन्य) होता है। प्रारम्भ में कोई व्यक्ति किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है। बाद में वह शब्द उस समाज या उस भाषा में लोकप्रिय हो जाता है। वही उस शब्द का संकेतित अर्थ माना जाता है। एक ही शब्द (या ध्वनि-समूह) विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ बताता है—अंग्रेजी Know (जानना) संस्कृत और हिन्दी में निषेधार्थक 'नो' माना जायेगा, knee (घुटना) संस्कृत के अनुसार 'नी' (ले जाना) होगा। अतः यह माना जाएगा कि किसी एक ध्वनि का कोई एक अर्थ नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करना 'संकेतग्रह' है। इसीप्रकार किसी ध्वनि समूह से किसी वस्तु का सम्बन्ध स्थापित करना या बोध कराना 'संकेतग्रह' है। यह संकेतग्रह लोक-व्यवहार एवं अनुशासन से होता है।

आवाप-उद्वाप या अन्वय व्यतिरेक- तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' 'तदभावे तदभावः व्यतिरेकः'। जिस शब्द के होने पर जो अर्थ बना रहेगा, उसे 'अन्वय' कहेंगे। जिस शब्द के न होने पर जो अर्थ नहीं रहेगा, उसे 'व्यतिरेक' कहेंगे। 'अन्वय' को 'आवाप' और 'व्यतिरेक' को 'उद्वाप' कहते हैं। बालक के अर्थज्ञान की प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात होगा कि वह अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति से भाषा सीखता है। 'गाय लाओ', 'गाय ले जाओ', 'घोड़ा लाओ', 'घोड़ा ले जाओ।' इन चार वाक्यों से बालक 4 शब्द सीखता है—गाय, घोड़ा, लाओ, ले जाओ। प्रथम दो वाक्यों में 'गाय' शब्द है। 'लाओ कहने पर 'गाय' पशु लाया गया। 'ले जाओ' कहने पर वह 'गाय' हटाई गई। दोनों वाक्यों में 'गाय' शब्द रहा। इससे बालक को स्पष्ट हुआ कि 'गाय' शब्द का

अर्थ यह गाय नामक पशु है। अन्य दो वाक्यों से 'घोड़ा' का अर्थ स्पष्ट हुआ। 'लाओ' से लाना होता है, 'ले जाओ' से हटाना होता है, यह स्पष्ट हुआ। इस अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से बालक को एक-एक शब्द का अर्थज्ञान होता है।

बिम्बनिर्माण- मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक शब्द का बिम्ब (चित्र) अंकित होता है। यह बिम्ब स्थायी रूप से मस्तिष्क में बना रहता है। 'गाय' देखने पर गाय का बिम्ब अंकित हुआ। पुनः गाय देखने पर वह बिम्ब उद्बुद्ध हो जाता है और हम गाय को पहचान लेते हैं। इसीप्रकार वस्तु का बिम्ब मन पर अंकित होता है, साथ ही उसका वाचक शब्द (गाय आदि) भी संस्काररूप में अंकित हो जाता है। इस शब्द (गाय शब्द) और अर्थ या वस्तु (गाय-पशु) के स्थिर मानसिक संस्कार को बिम्ब-निर्माण कहते हैं। इस बिम्ब-निर्माण का फल यह होता है कि 'गाय' शब्द से 'गाय' अर्थ संबद्ध हो गया और भविष्य में 'गाय' पशु को देखते ही 'गाय' शब्द उपस्थित हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण- दार्शनिक या भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित (Interrelated) हैं। शब्द शरीर है, अर्थ आत्मा है। दोनों को मिलाकर 'सार्थक शब्द' बनता है। अर्थ के बिना शरीर 'निर्जीव' है और शब्द के बिना 'अर्थ' अग्राह्य या अप्रयोज्य है। शब्द मूर्तरूप देता है और अर्थ उसमें चेतनता देता है। अतः सार्थक प्रयोग के लिए दोनों का समन्वितरूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ को एकतत्त्व के ही दो अभिन्न अंग माने हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थाविपृथक्स्थितौ। (वाक्य. 2/31)

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का वाचक-वाच्य सम्बन्ध माना है। वे 'अभिधा' शक्ति के अन्दर ही 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का भी अन्तर्भाव मानते हैं।

अस्याऽयं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।

योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते।। (वाक्य. 3/3/3)

4.3.4 अर्थज्ञान (संकेतग्रह) के साधन :

आचार्य जगदीश ने 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' में संकेतग्रह या अर्थज्ञान के 8 साधन माने हैं-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

1. व्याकरण, 2. उपमान, 3. कोश, 4. आप्तवाक्य, 5. व्यवहार, 6. वाक्यशेष (प्रकरण), 7. विवृति (विवरण, व्याख्या), 8. प्रसिद्ध पद का सांनिध्य।

(1) **व्याकरण**—व्याकरण शब्दों के अर्थ के ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। उससे ही प्रकृति-प्रत्यय, शब्दरूप, समास, तद्धित, कृत्, स्त्रीलिंग प्रत्ययों आदि का बोध होता है। कर्ता-कृ (करना)+त् (ता प्रत्यय वाला अर्थ), कर्ता करने वाला, अर्थ ज्ञात हुआ। पठ् से पठति, अपठत्, पठिष्यति-पढ़ता है, पढ़ा, पढ़ेगा का अन्तर व्याकरण ही बतायेगा। वासुदेव-वसुदेव+अ (पुत्र अर्थ में), वसुदेव का पुत्र, अर्थ व्याकरण से ही यह होगा।

(2) **उपमान**—उपमान का अर्थ है— सादृश्य। सदृश वस्तु बताकर किसी शब्द का अर्थ बताना। जैसे— गौरिव गवयः (गाय के तुल्य नील गाय होती है)। इस उपमान से गवय (नील गाय) का अर्थ ज्ञात हो जाता है।

(3) **कोश**—कोशग्रन्थों से शब्दों का अर्थ ज्ञात करने में बहुत सहायता मिलती है। वृत्रहा, त्रिपुरारि, मध्वरि, काय आदि का अर्थ हमें ज्ञात नहीं है तो कोश-ग्रन्थ की सहायता से इनका अर्थ इन्द्र, शिव, विष्णु, शरीर आदि ज्ञात हो जाता है।

(4) **आप्तवाक्य**—यथार्थवक्ता को 'आप्त' कहते हैं। वेद, शास्त्र, गुरु, माता, पिता आदि आप्त में गिने जाते हैं। बालक माता-पिता को आप्त मानकर ही बचपन में सारी भाषा सीखता है। ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, मोक्ष आदि का ज्ञान हमें वेद आदि से ही होता है।

(5) **व्यवहार**—व्यवहार का अभिप्राय है— लोक व्यवहार। बालक से लेकर वृद्ध तक लोक-व्यवहार से ही सबसे अधिक अर्थ-ज्ञान या संकेतग्रह करते हैं। संसार की सभी वस्तुओं के नाम हम लोक-व्यवहार से ही जानते हैं। माता-पिता, गुरु, साथी, मित्र आदि के व्यवहार से ही सम्बन्धियों के नाम, सम्बन्ध (भाई, चाचा, मामा आदि) का ज्ञान, पशु-पक्षियों के नाम, बाजार की सभी चीजों के नाम आदि जानते हैं। लोक-व्यवहार अर्थज्ञान का सर्वोत्तम साधन है।

(6) **वाक्यशेष (प्रकरण)**—वाक्यशेष का अर्थ है— प्रकरण। प्रकरण या प्रसंग नानार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय में सर्वोत्तम सहायक है। ‘रस’ और ‘ध्वनि’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। प्रसंग के अनुसार इनके अर्थ का निर्णय होता है। जैसे-1. ‘रसो वै सः’ में रस का अर्थ ‘आनन्द’ लिया जाएगा। परमात्मा आनन्दरूप है। 2. ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ (रसयुक्त वाक्य काव्य है) में रस का अर्थ ‘काव्य-रस’ है। 3. सरसं भोजनम् (रसयुक्त भोजन) में रस का अर्थ भोज्य षड्स है। 4. ‘ध्वनिरात्मा काव्यस्य’ (काव्य की आत्मा ध्वनि है) में ध्वनि का अर्थ ‘व्यंजना’ है। 5. ‘कोकिल-ध्वनि’ में ध्वनि का अर्थ ‘शब्द या कूजन’ है।

(7) **विवृति (विवरण, व्याख्या)**— विवरण या व्याख्या से अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है। विशेषरूप से पारिभाषिक, तकनीकी या दार्शनिक आदि शब्दों को बिना व्याख्या के नहीं समझा जा सकता है। जैसे तन्त्र, विधान, विधि, शासन पद्धति, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण-दर्शन, अद्वैत, द्वैत, त्रैत, विशिष्टाद्वैत आदि।

(8) **प्रसिद्ध (या ज्ञात) पद का सान्निध्य**—प्रसिद्ध या ज्ञात पदों की समीपता से अज्ञात शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। जैसे- बलाहक और विद्युत् का संयोग में विद्युत् (बिजली) का अर्थ ज्ञात होने से बलाहक का अर्थ ‘बादल’ ज्ञात हुआ। ‘पयोधि में मगर’, मगर का अर्थ ज्ञात होने से पयोधि का अर्थ ‘समुद्र’ ज्ञात होता है। ‘सुधा’ के दो अर्थ हैं—अमृत और चूना। ‘सुधा सिक्त भवन’ में भवन के सान्निध्य से ‘चूना’ अर्थ लिया जाएगा (चूने से पुता मकान), ‘सुधा-पान से अमर देवगण’ में देवगण के सान्निध्य से सुधा का अर्थ ‘अमृत’ लिया जाएगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थबोध के तीन साधन माने हैं—

1. **व्यवहार (Demonstration)** किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसे बार-बार दिखाना या उसकी ओर इंगित करना। इस तरह ब्लैकबोर्ड, पेन्सिल, कलम, चॉक, पुस्तक, कापी, छात्र आदि शब्दों का बोध कराया जाता है।

2. **विवरण (Circumlocution)**—किसी वस्तु का विवरण देकर उसका बोध कराना। जैसे समुद्र, पहाड़, जंगल, ताजमहल, किला आदि शब्दों का ज्ञान विवरण देकर कराया जाता है।

3. **अनुवाद (Translation)**—एक ही भाषा के कठिन शब्दों को या अन्य भाषा के शब्दों को अनुवाद के द्वारा समझाया जाता है। जैसे— शतक्रतु=इन्द्र, विवस्वान्=सूर्य। अंग्रेज को सेव=Apple, आम=Mango कहकर समझाया जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अर्थबोध के ये तीन साधन उपर्युक्त आठ साधनों की तुलना में बहुत न्यून प्रतीत होते हैं।

4.4 अर्थपरिवर्तन की दिशाएँ

संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा के शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ-परिवर्तन को विकास-सिद्धान्त की दृष्टि से 'अर्थविकास' भी कहा जाता है। यह अर्थ-परिवर्तन तीन प्रकार का होता है—1. कहीं पर अर्थ का विस्तार होता है, 2. कहीं पर अर्थ में संकोच होता है, 3. कहीं पर पुराने अर्थ के स्थान पर नया अर्थ आ जाता है। इन्हें ये नाम दिए गए हैं—

- (1) अर्थविस्तार (Expansion of Meaning)
- (2) अर्थसंकोच (Contraction of Meaning)
- (3) अर्थदिश (Transference of Meaning)

इन तीनों के जो उदाहरण मिलते हैं, उन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ स्थानों पर अर्थ अपने मूल अर्थ से उत्कृष्ट हो गया है और कहीं पर वह अपने मूल अर्थ से निकृष्ट, अपकृष्ट या घटिया हो गया है। इस दृष्टि से भी इनको दो भागों में रखा जाता है। ये उपर्युक्त तीनों भेदों में आते हैं परन्तु सुविधा के लिए इन पर अलग भी विचार किया जाता है। ये भेद हैं—

- (क) अर्थात्कर्ष (Elevation of Meaning)
- (ख) अर्थापकर्ष (Deterioration of Meaning)

4.4.0 अर्थविस्तार

कुछ शब्द मूल रूप में किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ में विस्तार हो गया। जैसे—

1. **कुशल**– कुशल शब्द का अर्थ था– कुशान् लाति (कुशों को लाना या लेना)। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है, उससे हाथ में छेद होने या कटने का भय रहता था। अतः कुश लाना चतुरता का सूचक था। अतएव तीक्ष्ण बुद्धि को ‘कुशाग्रबुद्धि’ कहा जाता है। यह शब्द धीरे-धीरे ‘कुश लाना’ अर्थ को छोड़कर ‘चतुरता’ और ‘निपुणता’ का अर्थ देने लगा। इस प्रकार इसके अर्थ में विस्तार हो गया। वह संगीत में कुशल है, वह शास्त्रों में कुशल है, वह खेलने में कुशल है, आदि।

2. **प्रवीण**– ‘प्रवीण’ का अर्थ था–प्रकृष्टो वीणायाम् (वीणावादन में श्रेष्ठ या निपुण)। यह शब्द वीणा-वादन की निपुणता को छोड़कर केवल ‘निपुण’ या दक्ष (चतुर) अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इसमें भी अर्थविस्तार हुआ है। जैसे– यह कृषिकर्म में प्रवीण है, यह साहित्य या दर्शन में प्रवीण है, यह कला में प्रवीण है, आदि।

3. **तैल**– सबसे पहले ‘तिल’ का तेल (द्रव) निकला था। उसके आधार पर तैल (तेल) नाम पड़ा। इसका अर्थ-विस्तार हुआ और अब यह तेल या द्रवमात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा है। सरसों का तेल, मूँगफली का तेल, बादाम का तेल आदि। यहाँ तक कि मिट्टी का तेल भी तेल में है। तिल के तेल के लिए ‘तिलतैलम्’ कहना पड़ा।

4. **गोशाला**– गोष्ठ गायों के रहने के स्थान को गोशाला या गोष्ठ कहते थे। उसमें बैल, भैंस, बकरी आदि भी बँधते हैं, फिर भी गोशाला नाम है। इस प्रकार गोशाला का अर्थ बढ़ा। इसीप्रकार गोष्ठ (गोठ) का भी अर्थ बढ़ा। गोष्ठ से गोष्ठी बना है–उसमें केवल बैठना अर्थ रह गया है। गोष्ठी में पशु के स्थान पर छात्र, अध्यापक, मनुष्य, विद्वान् सभी बैठते हैं। गोष्ठ शब्द इतना प्रचलित हुआ कि इसमें गो (गाय) का अर्थ जाता रहा और गो-गोष्ठम् (गाय-शाला), अविगोष्ठम् (भेड़-शाला), अजा-गोष्ठम् (बकरी-शाला) कहना पड़ा।

5. **महाराज**– यह राजा या महाराजा के लिए था, परन्तु इतना अर्थविस्तार हुआ कि किसी भी भद्र पुरुष को ‘महाराज’ कह सकते हैं। ‘महाराज’ रसोइया के अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है।

6. गवेषणा- प्रारम्भ में 'गाय चाहना' अर्थ में था। फिर यह 'गाय ढूँढ़ना' अर्थ में आया। अब इसमें से गाय अर्थ हटकर केवल ढूँढ़ना, खोज करना, अर्थ रह गया है। अब शोधकार्य के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

इसीप्रकार मषी या स्याही (काली स्याही) का अर्थ विस्तृत होने से सभी प्रकार की स्याही को 'स्याही' कहते हैं। 'अधर' नीचे के ओठ के लिए था। अब दोनों ओठों के लिए हो गया। इसीप्रकार बैल, पशु, गधा, उल्लू आदि शब्दों का अर्थ विस्तृत हुआ और ये 'मूर्ख' का भी अर्थ बताने लगे।

4.4.1 अर्थसंकोच

अर्थविस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थों में संकोच हुआ है। उनका विस्तृत अर्थ संकुचित या सीमित हो गया है। यास्क ने निरुक्त में वस्तुओं के नामकरण पर विचार करते हुए गो, अश्व, पृथ्वी आदि के उदाहरण देकर बताया है कि इनका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ बहुत विस्तृत है, परन्तु ये किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। 'गच्छतीति गौः' चलने वाले को 'गो' (गाय) कहते हैं। मनुष्य भी चलता है, उसे गो (गाय) नहीं कह सकते। 'अश्नुते अध्वानम् इति अश्वः' सड़क पर चलने वाले को 'अश्व' (घोड़ा) कहते हैं। सभी सड़क पर चलने वालों को 'अश्व' (घोड़ा) नहीं कह सकते। 'प्रथनात् पृथ्वी' फैली होने के कारण 'पृथ्वी' (भूमि) नाम पड़ा। फैली हुई चादर, तम्बू, शामियाना को पृथ्वी नहीं कहेंगे। 'मनुष्यः मननात्' मनन या चिन्तन करने वाले को 'मनुष्य' कहते हैं। मनुष्य जातिवाचक नाम हो गया, अतः चिन्तक और मूर्ख सभी मनुष्य हैं। इससे ज्ञात होता है कि नामकरण का आधार तात्कालिक कोई गुण या तत्त्व होता है। बाद में वह शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है। उसका व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वत्र प्रयोग नहीं कर सकते हैं। अतएव आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है कि 'शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार दूसरा है और प्रयोग का आधार दूसरा।' लोक-व्यवहार के आधार पर ही प्रयोग होता है, व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं। इसको ही 'अर्थसंकोच' कहते हैं। 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति-निमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। (सा.द.परि. 2)

इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। सभी वस्तु-नाम अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर उनका व्यापक अर्थ है, परन्तु वस्तु नाम होने पर वे उस अर्थ में रूढ़ हो गए

है। जैसे (1) जगत्, संसार, संसृति (संसार) इनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं-गतिशील, संसरणशील। परन्तु ये शब्द 'संसार' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। (2) वारिज, अम्बुज, सरसिज, सरोज, पंकज, नीरज, इनका शाब्दिक अर्थ है-जल, तालाब, या कीचड़ में उत्पन्न होने वाला। परन्तु ये शब्द 'कमल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। मछली, काई, कीड़े आदि को नहीं कह सकते। (3) जलद, तोयद, अम्बुद, वारिवाह (बादल) का अर्थ है- जल देने वाला, जल धारण करने वाला। ये 'बादल' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं, (4) वारिधि, नीरधि, अम्बुधि, तोयधि (समुद्र) का अर्थ है-जल धारण करने वाला। ये शब्द 'समुद्र' अर्थ में रूढ़ हो गए हैं। बाल्टी, कंडाल, हौज को वारिधि नहीं कह सकते। (5) सर्प रेंगने वाला। यह 'साँप' अर्थ में रूढ़ हो गया है। रेंगने वाले केंचुए आदि को सर्प नहीं कहेंगे। (6) पर्वत पर्व (गाँठ) वाला), 'पहाड़' अर्थ में रूढ़ हो गया है। पर्व वाले गन्ने को पर्वत नहीं कहेंगे। (7) तटस्थ, मध्यस्थ, उदासीन-किनारे पर खड़ा, बीच में खड़ा, ऊपर बैठा हुआ, ये शाब्दिक अर्थ हैं। परन्तु इनका प्रयोग 'निष्पक्ष' के अर्थ में होता है। (8) मन्दिर का अर्थ भवन था। यह देवमन्दिर अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है। (9) मृग पशु-मात्र के लिए था। अब केवल 'हिरन' अर्थ रह गया है। अंग्रेजी का Deer भी पशु-मात्र का वाचक था, अब 'हिरन' अर्थ रह गया है। (10) सभ्य, सभा में बैठने वाला। अब सुसंस्कृत, शिष्ट के लिए है। (11) श्राद्ध, श्रद्धायुक्त कर्म। अब मृतक श्राद्ध में ही प्रचलित है। (12) तर्पण, तृप्त करना। यह भी मृतकों के लिए रह गया है। (13) अनुकूल, प्रतिकूल किनारे के इधर, किनारे के उधर। इसमें से कूल (किनारे) का अर्थ हट गया। अब केवल 'हितैषी' और 'विरोधी' अर्थ रह गए। (14) वेदना, सुख और दुःख दोनों के अनुभव के लिए था। अब केवल 'दुःख' अर्थ रह गया है। (15) घृणा-दया और घृणा दोनों अर्थों में था। अब केवल 'घृणा' अर्थ है, 'दया' नहीं।

प्रो. मिशेल ब्रेआल का यह कथन ठीक है कि राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी, उसकी भाषा में 'अर्थसंकोच' के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि संस्कृति और सभ्यता के विकास से सामान्य शब्द विशेष अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं। अतः 'अर्थसंकोच' हो जाता है। 'अर्थसंकोच' के कुछ कारण ये हैं-

(क) समास- समास से अर्थ संकोच हो जाता है। कृष्णसर्पः (साँप की एक जाति), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी), मनसिजः, मनोजः (कामदेव), चतुर्मुखः (ब्रह्मा), दशाननः (रावण), पीताम्बरः (कृष्ण), नीलाम्बरः (बलराम), शितिवासाः (बलराम), गजवदन (गणेश), पुरारिः (शिव)। पश्यतोहरः (सुनार, देखते-देखते चुराने वाला)।

(ख) उपसर्ग- उपसर्ग लगाने से अर्थ संकुचित हो जाता है। जैसे- योग>वियोग, उपयोग, आयोग, नियोग, प्रयोग। गम>आगम, निगम, सुगम, दुर्गम, संगम, उद्गम। कार>प्रकार, आकार, विकार, संस्कार, प्रतिकार। हार>आहार, विहार, प्रहार, संहार। चार>प्रचार, आचार, विचार, संचार।

(ग) प्रत्यय- प्रत्यय लगाने से अर्थ संकोच होता है। मन्-मति>मनन, मत, मान, मानक। युज्> योग, योजना, आयोजन, प्रयोजन। कृ>कार, कारक, करण, कृति, कर्तव्य, कर्म। भुज्>भोग, भोजन, भोजक। व्यञ्ज्>व्यक्ति, व्यंजन, व्यंजना, व्यक्त। भज्>भाग, भजन, भक्ति।

(घ) विशेषण- विशेषण लगाने से अर्थ-संकोच हो जाता है। जन>दुर्जन, सज्जन। आचार> दुराचार, सदाचार, कदाचार (कुत्सित् आचरण)। कमल>नील-कमल, श्वेत कमल, रक्त कमल। पुरुषभद्र> पुरुष, दुष्ट पुरुष, नीच पुरुष।

(ङ) नामकरण- किसी वस्तु का नाम रख देने से अर्थसंकोच हो जाता है। मानव, दानव, सूर, असुर, देव, गन्धर्व, अप्सरा आदि। कृष्ण, कृष्णा, गौरी, नकुल, भीम, युधिष्ठिर, राम, लक्ष्मण, अशोक, बुद्ध आदि। गंगा, यमुना, हिमालय, नर्मदा, विन्ध्य, हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर।

(च) पारिभाषिकता- शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग। भाषाविज्ञान-स्वन, स्वनिम, ध्वनि, ध्वनिग्राम। काव्यशास्त्र- रस, लक्षणा, व्यंजना। व्याकरण- गुण, वृद्धि, आगम, आदेश, धातु, प्रत्यय।

4.4.2 अर्थादेश

अर्थादेश का अर्थ है- एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का आ जाना। आदेश का अर्थ है- एक को हटाकर दूसरे का आना। अर्थादेश में शब्द का प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है और नया अर्थ आ जाता है। जैसे- (1) असुर-मूल अर्थ+र

(प्राणशक्तिसंपन्न) 'देवता' था। बाद में सुर (देवता) का उल्टा असुर (राक्षस) अर्थ हो गया। (2) वर- मूल अर्थ 'श्रेष्ठ' था। अब केवल 'दूल्हा' अर्थ रह गया है। (3) सह- वेद में सह धातु का अर्थ 'जीतना' था। अब 'सहन करना' अर्थ रह गया है। (4) मौन- मूल अर्थ 'मुनि-कर्म' या मुनियों का आचरण था। अब 'चुप रहना' अर्थ रह गया है। (5) देवानां प्रिय- देवों का प्रिय। अशोक की उपाधि थी। बौद्धों से द्वेष के कारण ब्राह्मणों ने 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'मूर्ख' कर दिया। (6) बौद्ध-बुद्ध- बौद्ध धर्मावलम्बी को बौद्ध कहते थे। उसके अपभ्रंश रूप 'बुद्ध' का अर्थ 'मूर्ख' हो गया। (7) पाषण्ड- अशोक के समय में एक संप्रदाय था। इन्हें दान दिया जाता था। इनका रूपान्तर 'पाखण्ड' का अर्थ ढोंग, दिखावा रह गया। (8) आकाशवाणी- देवताओं की वाणी लिए था। अब All India Radio के लिए प्रयुक्त होता है। (9) साहस- साहस का प्राचीन अर्थ चोरी, डकैती आदि था। अब इसका 'उत्साहपूर्ण कार्य' अर्थ में प्रयोग होता है। (10.) खाद्य-खाद- खाद्य शब्द 'भक्ष्य' (खाने योग्य वस्तु) के लिए था। उसका रूपान्तर 'खाद' केवल कृषि के लिए उर्वरक है। (11) भद्र-भद्दा- भद्र का अर्थ था- 'सुशील, विनीत, उच्च'। इसके विकसित रूप 'भद्दा' का अर्थ 'गन्दा, बुरा' हो गया है। (12) मुग्ध- मूल अर्थ था 'मूर्ख'। इसका अर्थ हो गया है 'मोहित होना' सौन्दर्य पर मुग्ध होना। (13) वाटिका-बाड़ी- संस्कृत में वाटिका का अर्थ था- बगीचा। बंगला में यह 'बाड़ी' (घर) हो गया है। (14) कर्पट-कपड़ा- कर्पट का प्राचीन अर्थ था-फटा वस्त्र। इसका विकसित रूप 'कपड़ा' है। यह अच्छे कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

4.4.3 अर्थोत्कर्ष

अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अर्थविकास की जो तीन दिशाएँ बताई गई हैं, उनमें कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन से अर्थ में उत्कर्ष आया है और कुछ में अर्थ में अपकर्ष (निकृष्टता)। जिन शब्दों में अर्थोत्कर्ष हुआ है, उनके कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं- (1) मुग्ध, मूर्ख अर्थ में था, अब 'मोहित होना' अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है। (2) साहस-साहसी- साहस डाका डालना, चोरी, व्यभिचार आदि अर्थ में था, अब यह 'साहस' उत्साहयुक्त कार्य और साहसी, उत्साही अर्थ में प्रयुक्त होने से अर्थोत्कर्ष हुआ है (3) कर्पट-कपड़ा- कर्पट-फटे चीथड़े के लिए था, अब 'कपड़ा'

अच्छे वस्त्र के अर्थ में आता है। (4) फिरंगी-पुर्तगाली- डाकू के लिए था, अब 'यूरोपियन' के लिए है। (5) गोष्ठ-गोष्ठी-गोष्ठ गोशाला के लिए था, उससे बना 'गोष्ठी' सभ्य समाज की सभा के लिए है। (6) गवेषणा- गाय ढूँढ़ना अर्थ था, अब 'अनुसंधान' अर्थ हो गया है। (7) सभ्य- सभा में बैठने वाले के लिए था, अब 'सुसंस्कृत' के लिए है।

4.4.4 अर्थापकर्ष

इसीप्रकार अर्थपरिवर्तन से कुछ शब्दों के अर्थों में अपकर्ष (हीनता, निकृष्टता) आया है। जैसे- (1) असुर- ऋग्वेद में देव-वाचक था, संस्कृत में 'राक्षस' हो गया। (2) जुगुप्सा- पालन करना, छिपाना अर्थ था, अब 'घृणा' अर्थ रह गया। (3) शौच- पवित्र कार्य के लिए था (शुचि>शौच), अब 'मल-त्याग' अर्थ हो गया। (4) देवानां प्रियः - देवों का प्रिय, अशोक राजा अर्थ था, अब 'मूर्ख' अर्थ रह गया। (5) घृणा- संस्कृत में घृणा का 'दया' अर्थ भी था, अब केवल 'घृणा' अर्थ रह गया। (6) महाराज- बड़े राजा के लिए था, अब 'रसोइया' रह गया। (7) भद्र-भहा- भद्र 'सुशील' के अर्थ में था। उसका विकसित रूप 'भद्दा' 'गंदा-बुरा' अर्थ रह गया। (8) चतुर्वेदी-चौबे- चतुर्वेदी 'चारों वेदों के ज्ञाता' के लिए था, उसका विकसित रूप 'चौबे' केवल 'अधिक खाने वाला' अर्थ में रह गया। (9) हरिजन-शिल्पकार- हरिजन 'भक्त' के अर्थ में था, शिल्पकार शिल्पी के अर्थ में था, अब दोनों शब्द 'शूद्र या अछूत' के अर्थ में हैं। (10) लिंग- 'चिह्न' अर्थ था, अब 'इन्द्रिय-विशेष' के लिए हो गया है। (11) उद्धार-उधार- उद्धार 'उद्धार करना', 'उधार' (उधार लेना) रह गया है। (12) मधुर- मधुर (मीठा) भोजपुरी में 'माहुर' (विष) हो गया। (13) वज्रबटुक- पूर्ण ब्रह्मचारी से 'बजरबटू' (महामूर्ख) हो गया। (14) आबदस्त- नमाज पढ़ने से पूर्व हस्त-शुद्धि के लिए था, अब मलत्याग के बाद 'जल छूने' के लिए है। (15) कामशास्त्र, कोकशास्त्र- काम-सम्बन्धी शास्त्र थे, अब 'सेक्स साहित्य' के लिए है।

4.5 अर्थ-परिवर्तन के कारण

अर्थ या शब्दार्थ यद्यपि काल्पनिक एवं सांकेतिक हैं, परन्तु अर्थबोध का साक्षात् सम्बन्ध मन से है। मानव-मन गतिशील, चंचल, भावुक, संवेदनशील एवं नवीनता का

प्रेमी है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में मानव-मन की स्थिति एक सी नहीं होती है। यही कारण है कि राग-द्वेष, क्रोध, घृणा, आवेश आदि में उच्चरित शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है। यह अर्थ-परिवर्तन प्रारम्भ में व्यक्तिगत होता है, परन्तु बाद में समाज के द्वारा स्वीकृत होने पर भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है और भाषा का अंग बन जाता है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है।

मन की स्थितियों का भौतिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, अतः अर्थ परिवर्तन के कारणों की भी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है। कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन में एक के साथ दूसरा कारण भी सम्बद्ध होता है, अतः दोनों कारणों में उस उदाहरण को प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों में आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अर्थभेद या अर्थपरिवर्तन के कारण रूप में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सूक्ष्मतम विवेचन किया है। आगे दिए गए प्रायः सभी कारण लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के भेदों में अन्तर्निहित हो जाते हैं। अन्य भाषा-प्रभाव आदि कारण उनके विचाराधीन नहीं थे। स्पष्टता के लिए काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक नाम न देकर भाषाशास्त्रीय कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. टकर एवं मिशेल ब्रेअल ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। डॉ. तारापोरवाला ने अपनी पुस्तक 'Elements of the Science of Language' में प्रो. टकर के अनुसार अर्थपरिवर्तन के 12 कारण माने हैं। अन्य अनुसंधानों को भी समन्वित करते हुए अर्थ-परिवर्तन के 24 कारण माने जाते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है-

(1) **लाक्षणिक-प्रयोग (Metaphor)**- भावों और अनुभूतियों की सरल, सुन्दर एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया जाता है। इससे भाषा में रोचकता एवं मधुरता आ जाती है। इसके लिए अनेक प्रकार अपनाए जाते हैं, जैसे-

(क) सादृश्य-मूलक वर्णन- निर्जीव में भी मानवीय अंगों का वर्णन। नारियल की आँख, आरी के दाँत, सुराही की गर्दन, घड़े का मुँह, पर्वत की चोटी, चारपाई के पैर, छन्द के चरण या पाद, मकान की पीठ (छत), गुफा का पेट।

(ख) गौण-प्रयोग- गुण-साम्य के आधार पर प्रयोग- सुन्दर कल्पना, कटु अनुभव, मधुर लय, मीठी मुस्कान, कटु सत्य, सरस साहित्य, नीरस भाषण, चटपटी बात आदि।

(ग) गुणसाम्य-मूलक प्रयोग- गुणों की समानता के आधार पर ऐसे प्रयोग होते हैं। राम, सिंह है। गुणग्राही को हंस, डरपोक को गीदड़, मूर्ख को पशु या उल्लू, गन्दे को सूअर, महामूर्ख को गधा, खुशामदी को कुत्ता, भोले-भाले को गाय (गौ), कपटी एवं अपकारी को साँप (आस्तीन का साँप), दुर्जन को बिच्छू आदि।

(घ) कृतियों के लिए लेखक का नाम- शिशुपालवध महाकाव्य को 'माघ', माघ पढ़ रहा हूँ। 'कालिदास, अश्वघोष, भारवि या भवभूति पर शोध कार्य कर रहा हूँ', मैं कालिदास आदि से उनकी कृतियों का अभिप्राय है। 'आजकल सूर, तुलसी, प्रसाद, पन्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं' में भी उनकी कृतियों से अभिप्राय है।

(2) परिवेश-भेद (वातावरण में परिवर्तन)- परिवेश या वातावरण में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवेश-भेद अनेक प्रकार का हो सकता है-

(क) भौगोलिक परिवेश-भेद- भौगोलिक परिवेश में भेद के कारण शब्दों के अर्थ में अन्तर हो जाता है। वेद में 'उष्ट्र' शब्द 'भैसा' के अर्थ में है। बाद में उष्ट्र का प्रयोग 'ऊँट' के अर्थ में होने लगा। इसका कारण आर्यों का भौगोलिक स्थान परिवर्तन ज्ञात होता है। Corn (कान) शब्द के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ हैं- इंग्लैंड में 'गेहूँ', स्कॉटलैंड में 'बाजरा', अमेरिका में 'मक्का'। इसका एक मनोरंजक उदाहरण दिया जाता है कि गत युद्ध के समय अंग्रेजों ने अमेरिका से कान (गेहूँ) मँगाया था। अमेरिका वालों ने अपने अर्थ के अनुसार कान (मक्का) उन्हें भेज दिया। बाद में जाँच होने पर इसका यह भेद खुला। हिन्दी में 'खोता', 'खोती' समय नष्ट करने के लिए क्रिया शब्द हैं- समय खोता है, समय खोती है, परन्तु पंजाब में खोता (गधा), खोती (गधी) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'भाइयो, वृथा समय क्यों खोते हो' भजन का संक्षिप्त रूप 'भाइयो क्यों तुम खोते हो, बहनो, क्यों तुम खोती हो, कहने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इस प्रकार पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'लाला' का अर्थ 'वैश्य' है, पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'कायस्थ'। पश्चिमी उ. प्र. में 'चावल' चावल अन्न और भात दोनों के लिए, पूर्वी

उ. प्र. में चावल (अन्न) और भात (पका भात) में अन्तर है। उ. प्र. में 'ठाकुर' का अर्थ 'क्षत्रिय' है, बिहार में 'नाई' और पश्चिम बंगाल में 'रसोइया'।

(ख) सामाजिक परिवेश भेद- समाज में परिवेश के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। अंग्रेजी के Mother (मदर), Sister (सिस्टर), Father (फादर), Brother (ब्रदर) आदि शब्द विभिन्न सामाजिक वातावरण में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। परिवार में ये माता, बहिन, पिता, भाई अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अस्पताल में 'मदर' मैट्रन के लिए और 'सिस्टर' नर्स के लिए, रोमन कैथोलिक चर्च में 'फादर' पादरी (पुरोहित) के लिए, 'ब्रदर' सहयोगी पादरी के लिए। संस्कृत और हिन्दी में पितृवर्यः (पिताजी), मातृवर्या (माताजी) केवल पिता-माता के लिए ही नहीं, अपितु आदरणीय चाचा-चाची, पिता- माता के तुल्य पूज्य कोई भी व्यक्ति अर्थ हो सकता है। हिन्दी में इसीप्रकार 'भाई' शब्द साथी, मित्र, हितैषी, दुकानदार, नौकर आदि का बोधक है। 'बहिन' शब्द बहिन, बहिन की आयु की कन्याएँ, सहेलियाँ आदि का बोधक है।

सामाजिक परिवेश के कारण ही एकार्थक होने पर भी हिन्दू परमात्मा को 'ईश्वर', ईसाई 'गॉड' (God) और मुसलमान 'अल्लाह' कहेगा। इसीप्रकार विद्यालय-स्कूल-मकतव, संध्या प्रेयर (Prayer) नमाज, जलपान-ब्रेकफास्ट (Breakfast)-नाश्ता, राजा-किंग (King)-बादशाह, रानी क्वीन (Queen) बेगम आदि शब्दों में अन्तर हो जाता है।

(ग) धार्मिक परिवेश-भेद- धार्मिक परम्पराओं आदि के भेद के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार दो वेद जानने वाले को 'द्विवेदी', तीन वेद जानने वाले को 'त्रिवेदी' या 'त्रिपाठी', चार वेद जानने वाले को 'चतुर्वेदी', शुक्ल यजुर्वेदज्ञ को 'शुक्ल', कृष्ण यजुर्वेदज्ञ को 'मिश्र' आदि कहते थे। परन्तु ये शब्द अब ब्राह्मणों की जाति विशेष के बोधक रह गए हैं। यजमान' यज्ञ करने वाला न होकर कोई भी 'यजमान' हो सकता है। 'उपाध्याय' अध्यापक न होकर कोई भी जन्मना उपाध्याय हो सकता है। 'दक्षिणा' दक्षिण दिशा में बैठकर यजमान द्वारा दिया गया धन या दान होता है, अब यह केवल दान-दक्षिणा (कुछ भी धनादि-दान) रह गया है।

(घ) राजनीतिक परिवेश-भेद- राजनीतिक परिस्थितियों में अन्तर हो जाने के कारण शब्दों के अर्थों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। उनमें मूल भावना नष्ट हो जाती है और व्यापक अर्थ में उन शब्दों का प्रयोग होने लगता है। जैसे- पारिवारिक गृहकलह के लिए भी 'महाभारत', दुराग्रह पूर्ण कार्य के लिए भी 'सत्याग्रह', हठ-युक्त आन्दोलन के लिए भी 'क्रान्ति', झगड़े में मरने वाले को भी 'शहीद', दुष्टहृदय को भी 'महाशय' (विशाल हृदय) आदि। इसीप्रकार स्वार्थी को भी 'देशभक्त', राष्ट्र को पीछे ले जाने वाले को भी 'नेता' कहा जाता है।

(ङ) भौतिक परिवेश-भेद- भौतिक साधनों में परिवर्तन होने के कारण वस्तुओं के नामों में भी परिवर्तन हो जाता है। नई वस्तुओं के निर्माण या आविष्कार के साथ यह समस्या आती है कि उनका क्या नाम रखा जाए? इसके लिए सरल उपाय यही अपनाया जाता है कि कोई पुराना शब्द, जो उसके तुल्य वस्तु का बोधक हो, उसे उस अर्थ में प्रयोग किया जाए। पीने के लिए प्रयुक्त पात्र का प्राचीन नाम कमण्डलु (लोटा) आदि ज्ञात है, परन्तु गिलास जैसे बर्तन का नाम अज्ञात है। अंग्रेजी Glass (ग्लास) शब्द काँच के लिए है। अंग्रेजी में शीशा या दर्पण को Glass या Mirror (ग्लास, मिरर) कहते हैं। पहले गिलास काँच का बना, अतः उसे ग्लास (गिलास) कहा गया। परन्तु अब अर्थ-विस्तार होने से धातु या प्लास्टिक आदि के बने पात्र को भी गिलास कहा जाता है। Pen (पेन) शब्द का भी ऐसा ही इतिहास है। पक्षी के पंख को 'पेन' कहते हैं। पहले कलम पक्षी के पंख से बनती थी, अतः उसे 'पेन' कहा गया। अब पेन, फाउन्टेन पेन, डॉट पेन आदि किसी भी धातु से बने हो सकते हैं। यही 'शीशा' (दर्पण) का इतिहास है। पहले शीशा धातु-निर्मित होता था। अब शीशा (दर्पण) काँच (शीशा) से निर्मित होता है, अतः उसे शीशा कहा जाता है।

(3) व्यंग्य प्रयोग (Irony)- इसको काव्यशास्त्र के अनुसार विपरीत लक्षणा कहते हैं। किसी पर आक्षेप करने या व्यंग्य करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो उससे सर्वथा उल्टा अर्थ बताते हैं। जैसे मूर्ख को बृहस्पति, झूठे को युधिष्ठिर, कृपण को कर्ण, डरपोक को सिंह, आचारहीन को धर्मात्मा, लम्पट को ब्रह्मचारी, कुलक्षणा को सती-सावित्री, अनाड़ी को पंडित-पुंगव (इससे ही पोंगा शब्द बना है),

दुर्जन को कृपानिधान, आदि। 'आँख का अन्धा नाम नैनसुख', 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा', आदि मुहावरे भी व्यंग्य-मूलक हैं। अपकारी का उपकारी के रूप में वर्णन करते हुए संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है-

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

अर्थ सर्वथा भिन्न है- तुमने मेरा अपकार किया है, तुम शीघ्र मरो।

(4) श्रवण-सुखदता (Euphemism)- इसको अशुभ परिहार, अमंगल-वारण, सुश्राव्यता भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे यूफेमिज्म कहते हैं। यूफे मिज्म दो ग्रीक शब्दों Eu (एउ)=सुन्दर, Phemos (फेमोस) ध्वनि या कथन के संयोग से बना है। इसका अर्थ है- सुन्दर ध्वनि, कर्ण-सुखद या श्रवण-सुखद ध्वनि। अशुभ, अमंगलसूचक, घृणित और पीडाजनक शब्द सुनने में अप्रिय होते हैं, अतः उन अर्थों के लिए शुभ एवं सुन्दर शब्दों का प्रयोग सभ्यता तथा शिष्टता का सूचक माना जाता है। इसके कई भेद हो सकते हैं- 1. अशुभ या अमंगल, 2. ब्रीडा (लज्जा), 3. जुगुप्सा (घृणित, अश्लील), 4. अन्धविश्वास-मूलक, 5. हीन-कार्य आदि।

(क) अशुभ-परिहार- अशुभ कार्यों एवं घटनाओं के लिए शुभ नाम दिए जाते हैं। 'मृत्यु' के लिए पंचत्व, देहावसान, स्वर्गवास, वैकुण्ठलाभ आदि। 'लाश' के लिए शव, मिट्टी आदि। 'वैधव्य' के लिए चूड़ी फूटना, सिन्दूर धुलना आदि। 'दीपक बुझाने' को दीपक बढ़ाना, दुकान बन्द करने को दुकान बढ़ाना आदि। अन्धे को सूरदास, प्रज्ञाचक्षु कहना भी अशुभ-परिहार है।

(ख) ब्रीडा- लज्जाजनक शब्दों का अप्रयोग। इसमें मल-मूत्र त्याग, नग्नता, यौन-कार्य आदि आते हैं। मलत्याग के लिए शौच (पवित्रता), टट्टी (टाटी की ओट में बैठना), मैदान जाना, दिशा जाना, पाखाना (पैर रखने का स्थान)। मूत्रत्याग के लिए-लघुशंका, स्तन के लिए छाती।

(ग) जुगुप्सा- जुगुप्सा शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका अर्थ है- 'रक्षा करना'। जैसे गोप्ता, गुप्त, गोपनीय। रक्षा-योग्य वस्तु छिपाकर रखी जाती है, इसलिए जुगुप्सा का अर्थ 'छिपाने योग्य' हुआ। धीरे-धीरे जुगुप्सा शब्द का प्रयोग घृणा अर्थ में

होने लगा, क्योंकि घृणित वस्तुएँ भी छिपाने योग्य होती हैं। घृणास्पद वस्तुओं और बातों का प्रयोग अशिष्ट समझा जाता है। अतएव 'पीव पड़ना', 'राल टपकना', 'कीड़े पड़ना', 'खून से लथपथ' जैसे प्रयोग वर्ज्य माने जाते हैं। यौन अंग, यौन भावना के लिए शिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मैथुन के लिए रतिकर्म आदि। इसीप्रकार नग्न के लिए दिगम्बर, दिग्वासस् आदि।

(घ) अन्धविश्वास- अन्धविश्वास के कारण पति, पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, गुरु, अतिकृपण आदि का नाम लेना वर्जित माना जाता है। मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है-

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।

श्रेयस्कामो न गृहणीयात् ज्येष्ठापत्य कलत्रयोः॥

अन्धविश्वास है कि अतिकृपण के प्रातः दर्शन से दिनभर भोजन नहीं मिलता। उक्त कारणों से पति के लिए 'अमुक के पिता', 'अमुक के बाबू' आदि, पत्नी के लिए 'अमुक की माँ', 'अमुक की महतारी' आदि कहा जाता है। अन्धविश्वास के कारण ही घातक बीमारियों के लिए शुभ नाम रखे गये हैं। जैसे- चेचक को शीतला, माता, महारानीय हैजे को 'पेट चलना'। घातक जीवों को अच्छे नाम सर्प को कीड़ा, कीरा, रसरी आदि।

(ङ) हीन- कार्यहीन या निकृष्ट काम करने वालों को अच्छे नाम दिए जाते हैं। जैसे- भंगी को जमादार, मेहतर। चोर को तस्कर (तत् + कर, वह अनुचित काम करने वाला)। न्यूयार्क आदि में मोटा काम करने वाले अफ्रीकी हबशी Black Man (काला आदमी) कहाना पसन्द करते हैं, परन्तु नीग्रो (जंगली) कहने पर मारने को तैयार हो जाते हैं।

(5) शिष्टाचार एवं विनम्रता- शिष्टाचार एवं विनम्रता मनुष्य की कुलीनता का सूचक है। इसमें अहंभाव का परित्याग है। अतएव अपने इष्टदेव, पूज्य, राजा आदि का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया जाता है और अपने आपको अत्यन्त तुच्छ। अतएव भक्त अपने को 'दीन', 'पतित', 'पापी', 'खल', 'कुमति' आदि कहता है, तथा परमात्मा को 'दीनबन्धु', 'पतित-पावन', 'पतित उबारनहार', 'अशरण-शरण', 'पालनहार' आदि कहता है। इसीलिए गीतों में ये पद मिलते हैं- मैं मूरख खल कामी, 'तुमको मैं कुमति', 'मो सम

कौन कुटिल खल कामी' आदि। राजा को अवनिपति, राजाधिराज, जहाँपनाह, गरीब-नवाज, अन्नदाता, माई बाप, आलम पनाह, पृथ्वीनाथ, जगत्पालक आदि। नौकर अपने आपको चरणसेवक, गुलाम, अकिंचन, नाचीज, अनुचर, किंकर, सेवक आदि। इसीप्रकार शिष्टतावश आइए बैठिए के स्थान पर 'पधारिए', 'आसन को अलंकृत कीजिए' 'कहिए' के लिए आज्ञा दीजिए, 'फरमाइए'। भोजपुरी में 'आप' के लिए 'राउर' शब्द है।

(6) वैयक्तिक ज्ञानभेद- शिक्षित, अशिक्षित, दार्शनिक, वैज्ञानिक, भाषाशास्त्री आदि सभी के ज्ञान का स्तर पृथक् पृथक् होता है। प्रत्येक विषय का विशेषज्ञ, उस विषय के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सूक्ष्मता से समझता है, अन्य व्यक्ति उस शब्द का सामान्य अर्थ लेते हैं। इसीलिए शब्दों के अर्थ-ज्ञान में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, हिंसा, अहिंसा, क्रान्ति, आक्सीजन, हाइड्रोजन, आणविक अस्त्र, ध्वनिविज्ञान, ध्वनियन्त्र आदि शब्दों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समझता है। प्रत्येक शब्द एक 'रत्न' है, जिसका असली मूल्य विशेषज्ञ या जौहरी ही जान सकता है, जनसाधारण के लिए वह एक चमकीला पत्थर है।

(7) भावात्मक बल- इसमें ही भावावेश और भावुकता का भी संग्रह हो जाता है। भावात्मक बल देने से शब्दों के अर्थों में अन्तर आ जाता है। सरसता, मनमोहकता आदि का बोध कराने के लिए मिठाइयों के बंगाली नाम रसगोल (रसगुल्ला), सीताप्रिय, मोहनप्रिय, सन्देश आदि हैं। भावोद्बोधन के लिए कटू को सीताफल, तोरई को रामतोरई। पवित्रता-बोधन के लिए 'प्रयाग' शब्द कर्णप्रयाग, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, विष्णुप्रयाग। शुचित्व के लिए 'गंगा' शब्द रामगंगा, विष्णुगंगा, लक्ष्मणगंगा आदि। अतिशय के लिए प्रचण्ड, उत्साह, भीषण गर्मी, भयंकर शीतलता, प्रचण्ड मूर्ख, प्रचण्ड प्रताप आदि शब्द।

भावात्मक बल के कारण कुछ शब्दों का अर्थ सर्वथा बदल जाता है। जैसे- राम-राम! हरे-हरे! (घृणा-सूचक)। प्रेमातिशय में बच्चे को शैतान, मूर्ख, नालायक, कमबख्त, बेहूदा, नादान, गधा आदि शब्द केवल प्रेम-सूचक हैं। इसीप्रकार पति को राजा, पत्नी को रानी, पिता को भाई या भैया, पुत्र को बाबू कहना भी प्रेमाधिक्य का सूचक है।

(8) सामान्य के लिए विशेष- कभी-कभी सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग प्रचलित हो जाता है। किसी विशिष्ट अर्थ को बताने वाला शब्द सामान्य रूप से उस वर्ग का बोध कराता है। जैसे 'तैल' शब्द तिल के तेल के लिए था। परन्तु अब यह सभी प्रकार के तेल के लिए प्रयुक्त होता है। सरसों का तेल, नारियल का तेल आदि। तिल के तेल के लिए तिल-तैलम् कहा जाएगा। 'पैसा' शब्द धन-वैभव का सूचक हो गया है। 'ये पैसे वाले हैं' में पैसा से पैसा ही नहीं, रुपया-नोट आदि सभी प्रकार का धन अभिप्रेत है।

कुछ जाति-वाचक शब्द एक ही लिंग में प्रयुक्त होते हैं और पुंलिंग-स्त्रीलिंग (नर-मादा) दोनों का बोध कराते हैं। पुंलिंग का प्रयोग दोनों लिंगों के लिए तोता, मैना, कौआ, कोकिल, बाज, बारहसिंगा, चीता, गीदड़ आदि। केवल स्त्रीलिंग शब्द दोनों लिंगों के लिए चीटी, लोमड़ी, छिपकली, भेड़ आदि। इसीप्रकार छात्र, अध्यापक, वकील, डॉक्टर, मजदूर, प्रोफेसर आदि शब्द दोनों लिंगों के लिए प्रयुक्त होते हैं। विधान (Law) का नियम है 'He includes she' अर्थात् पुंलिंग में स्त्रीलिंग का भी समावेश है। 'जलपान' और 'टी पार्टी' में केवल जल या चाय नहीं है। इसमें पूरा लघु-भोजन समाविष्ट है।

(9) शब्दार्थ की अनिश्चितता- भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित नहीं होता है। इस कोटि में मुख्य रूप से अमूर्त भावों के बोधक शब्द हैं। दोनों में अन्तर यह है कि उसमें व्यक्ति के ज्ञान पर बल है। वहाँ व्यक्तिगत ज्ञानभेद से अर्थभेद है। यहाँ शब्द का अर्थ अमूर्त होने से अस्पष्ट है। जैसे- पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, न्याय, प्रेम, श्रद्धा, दया, अनुकम्पा, घृणा, शुश्रूषा, आसक्ति, अनुरक्ति, विरक्ति, भक्ति, उत्थान पतन, आरोह-अवरोह आदि। इनका ठीक यही अर्थ है, यह बताना असंभव है। परिस्थिति, काल, देश आदि के भेद से इनके अर्थों में बहुत अन्तर हो जाता है। कैसा स्वर्ग?, कैसा नरक? है भी या नहीं? यह बताना असंभव है। इसीप्रकार अन्य शब्दों के अर्थ हैं।

(10) अज्ञान और भ्रान्ति- अज्ञान या भ्रान्त धारणा के कारण बहुत से शब्दों का अशुद्ध प्रयोग होने लगता है। बाद में वे शब्द भाषा में चल पड़ते हैं। वेद में

असुर (असु+र, प्राणशक्ति-सम्पन्न) शब्द देव-वाचक था। संस्कृत में 'सुर' शब्द देव अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और अ+सुर (देव-भिन्न) अर्थ लेकर असुर का प्रयोग राक्षस के लिए होने लगा। अज्ञान के कारण ही अभिज्ञ (विद्वान्) में 'अ' को निषेधार्थक मानकर कुछ लोग विज्ञ के तुल्य भिज्ञ (विद्वान्) और अभिज्ञ (मूर्ख) प्रयोग करते हैं। अनुगृहीत के स्थान पर अनुग्रह के आधार पर 'अनुग्रहीत' प्रयोग करते हैं। इसीप्रकार विद्वत्ता के लिए विद्वानता, महत्ता के लिए महानता, अज्ञानमूलक प्रयोग हैं। लोकभाषा में बूढ़ा के लिए बुढ़ापा, फजूल के लिए बेफजूल आदि प्रयोग अज्ञानसूचक हैं।

(11) एक तत्त्व की प्रधानता- कभी-कभी एक विशेषता या एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर किसी वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे- सुन्दर वर्ण (रंग) के कारण सुवर्ण (सोना), सफेदी के आधार पर चाँदी (चाँदनी), गौर वर्ण के कारण गौरी (गोरी), कृष्णा (काली, रात्रि)। इसीप्रकार पुलिस के लिए 'लाल पगड़ी', कांग्रेसी के लिए 'सफेद टोपी', कम्युनिस्ट के लिए 'लाल झंडा', खान अब्दुल गफ्फार ख़ाँ की स्वयंसेवी संस्था के लिए 'लाल कुर्ती' शब्द चल पड़े हैं।

(12) गौण अर्थ की मुख्यता- साहचर्य आदि कारणों से गौण अर्थ का मुख्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है। संस्कृत में देश के आधार पर देशज व्यक्ति और राजा का अर्थ होता है- अङ्गाः, बङ्गाः, कलिङ्गाः (अंग, बंग, कलिंग के व्यक्ति या राजा)। 'पंजाब बहादुर है' में पंजाब, पंजाबी के लिए है। यमन देश के आधार पर 'यवन' (मुसलमान), असीरिया देश के आधार पर 'असुर' नाम पड़े। इसीप्रकार सिन्धु देश में होने से सैन्धव (सैंधा नमक), सुलेमान पर्वत पर होने से सुलेमानी नमक, सांभर झील से उत्पन्न होने से 'सांभर नमक' नाम पड़े। कश्मीर में होने से केसर को 'काश्मीर', चीन से सम्बद्ध होने से 'चीनी', 'चीनी मिट्टी', 'चीनिया बादाम' (मूँगफली) नाम पड़े। तम्बाकू सर्वप्रथम सूरत बन्दरगाह पर उतरा, अतः उसका 'सुर्ती' नाम पड़ा।

(13) एक शब्द के विभिन्न रूप- भाषाओं में विकास के कारण एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो जाते हैं। तत्सम शब्द प्रायः प्राचीन मूल अर्थ को बताता है। तद्भव शब्द उससे सम्बद्ध निकृष्ट अर्थ या अन्य अर्थ को बताता है। जैसे- कर्म (कर्तव्य), काम (काम-धंधा), क्षीर (दूध) खीर (खीर), स्तन (स्त्री का), थन (पशु आदि का),

श्रेष्ठ-सेठ (साहूकार), साधु (सज्जन), साहु (वैश्य), पत्र-पत्ता-पत्ती, पत्रा (पंचांग), पत्री (चिट्ठी), खाद्य (भोज्य पदार्थ), खाद (उर्वरक), अन्नाद्य (भोज्य अन्न), अनाज, स्थान-थान (देवी या पशु का), थाना (पुलिस का)। कुछ शब्दों के तद्भव रूप विकृत या निकृष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे- ब्राह्मण (शिक्षित), बाम्हन (अशिक्षित), चतुर्वेदी (वेदज्ञ), चौबे (जाति से), त्रिवेदी (तिवारी), द्विवेदी (दूबे), शुक्ल (यजुर्वेदी), सुकुल (जाति से), उपाध्याय ओझा, झा (जाति से)।

(14) समास, उपसर्ग, लिंग-भेद- समास युक्त और असमस्त शब्दों के अर्थों में अन्तर होता है- कृष्णसर्पः (सर्प-विशेष) काला सर्प (कोई भी साँप), राजपुरुषः (राजकीय कर्मचारी) राज्ञः पुरुषः (राजा का कोई भी आदमी)। इसीप्रकार महात्मा-महान् आत्मा, महापुरुष महान् पुरुष, नीलकमल (कमल का भेद) नीला कमल में अन्तर है। समास में शब्दों को आगे-पीछे करने से अर्थ बदल जाता है। जैसे- पति-गृह (ससुराल) गृहपति (गृहस्वामी), पण्डितराज (पण्डितों में श्रेष्ठ)-राजपण्डित (राजा का पण्डित), कविराज (वैद्य) राजकवि (राजा का कवि)। इसीप्रकार राजवैद्य- वैद्यराज, धनपति-पतिधन, ग्रामपति-पतिग्राम आदि।

संस्कृत में उपसर्ग लगाने से शब्दों के अर्थों में महान् अन्तर हो जाता है। हार-आहार-विहार- प्रहार-उपहार-संहार, योग-वियोग संयोग-प्रयोग अनुयोग, कार-आकार-विकार-प्रकार-संस्कार, धान-परिधान- विधान निधान अनुसंधान, ज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान, दान-आदान-प्रदान-अनुदान आदि।

लिंग-भेद से अर्थभेद हो जाता है। काला-काली (दुर्गा), शिव-शिवा (गोदड़ी), कृष्ण-कृष्णा (द्रौपदी), शैल (पर्वत) शैला (पार्वती), गौर-गौरी (पार्वती), चण्ड-चण्डी (देवी), दक्षिण-दक्षिणा (दान) आदि।

(15) बल का अपसरण (Shifting of Emphasis)- शब्द में किसी ध्वनि से बल या बलाधान को हटा देने से वह ध्वनि निर्बल हो जाती है और अन्त में उसका लोप भी हो जाता है। इससे मुख्य अर्थ में अन्तर हो जाता है। उपाध्याय>ओझा>झा में बल-अपसरण से उपाध्याय का झा रह गया और गुरु अर्थ के स्थान पर कान-झाड़ने बाला या कान फूंकने वाला अर्थ रह गया। गोस्वामी से गोसाई में केवल साधु या

मान्य अर्थ रह गया। पुंगव (बैल, फिर श्रेष्ठ अर्थ)>पोंगा (गँवार पंडित)। इसीप्रकार युयुत्सु (लड़ने का इच्छुर्क) से जुजुत्सु (जापानी कुश्ती), वज्रवटुः (घोर ब्रह्मचारी)>बजरबट्ट (महामूर्ख) आदि।

(16) कालभेद- कालभेद से शब्दों के अर्थों में अन्तर होता जाता है। विकास-क्रम के अनुसार सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थों में अन्तर होता गया है। वैदिक संस्कृत, संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी के प्राचीन और नवीन रूपों की तुलना से यह स्पष्ट होता है। वेद में सह् धातु 'जीतना' अर्थ में थी, अब सहन करना अर्थ रह गया है। 'मृग' सिंह-वाचक था, अब हिरन-वाचक है। गवेषणा (गाय की खोज) का 'शोधकार्य या खोज' अर्थ रह गया है। श्रेष्ठ>सेठ, साधु>साहु, महाराज>महाराज (रसोइया), महत्तर>मेहतर (भंगी), महाजन (बनिया) आदि कालभेद से अर्थभेद के उदाहरण हैं।

(17) अन्य भाषाओं के शब्द- अन्य भाषाओं से जो शब्द किसी भाषा में लिए जाते हैं, उनके मूल अर्थ और नये अर्थ में अन्तर हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ 'पक्षी' है। हिन्दी में उसका अर्थ 'मुर्गा' पक्षी रह गया है। लॉर्ड से लाट-लाटसाहब लाटसाहबो आदि शब्द केवल शान-शौकत का बोध कराते हैं। 'दीनार' शब्द (Denarius=डीनेरियस) रोम से आया। इसका अर्थ 'चाँदी या सुवर्ण का सिक्का' था। भारत में यह सोने के सिक्के (अशफ़ी) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का 'बुद्ध' (गौतम बुद्ध) फारसी में बुत (मूर्ति) हो गया। इससे वे हिन्दुओं को बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) कहते हैं। संस्कृत के अर्वन (घोड़ा) से 'अरब' देश का नाम पड़ा। संस्कृत का 'असुरमेधा' (दिव्य बुद्धि) शब्द अवेस्ता में 'अहुरमज्दा' (पारसियों का इष्टदेव) बना। संस्कृत का 'नास्ति नाभूत्' (न है, न था) से फारसी 'नेस्त् नाबूद' (सर्व-नाश) हो गया। संस्कृत 'वाटिका' (बगीचा) बंगला में 'बाड़ी' (घर) हो गया। संस्कृत 'कादम्बरी' (बाण की कृति) मराठी में 'कादम्बरी' (उपन्यास) हो गया। इसीप्रकार संस्कृत 'नील' (नीला) हिन्दी में 'नील' (कपड़े में लगाने का नीला पदार्थ) और गुजराती में 'लीलो' (हरा रंग) हो गया। संस्कृत 'मृग' (पशु) फारसी में 'मुर्ग' (पक्षी) हो गया। वैदिक 'जनि' (स्त्री) अंग्रेजी में Queen (कवीन, रानी) हो गया। अन्य भाषाओं के शब्दों को लेने में प्रायः कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी हो जाता है।

(18) **अन्य भाषा-प्रभाव-** सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव दूसरी भाषाओं पर पड़ता है। बंगला, पंजाबी, मराठी आदि का प्रभाव संस्कृत एवं हिन्दी की शब्दावली पर पड़ा है। अब कतिपय शब्द प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त न होकर नये अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बंगला के प्रभाव से हिन्दी में 'उपन्यास' (Novel) शब्द चला। 'प्रबन्ध', 'निबन्ध' शब्द लेख (Essay) अर्थ में थे। अब थीसिस (Thesis) के अर्थ में भी चल पड़े हैं। समारोह (चढ़ना) का 'शुभ आयोजन' अर्थ हो गया। समाचार (शुभ आचरण) का वार्ता (News) अर्थ हो गया। पंजाबी और हरियाणी के प्रभाव से हिन्दी में 'काटना' के अर्थ में 'लड़ना' का प्रयोग भी होता है। 'मच्छर काट रहे हैं' को 'मच्छर लड़ रहे हैं'। भोजपुरी में 'मच्छर लग रहे हैं', कहते हैं।

(19) **संक्षेप (संक्षिप्तता)-** प्रयत्नलाघव मानव की प्रवृत्ति है। अतएव वह थोड़े शब्दों से अधिक अर्थ प्रकट करना चाहता है। फलस्वरूप शब्द के एक अंश से पूरे शब्द का अर्थ लिया जाता है। जैसे नामों में एक अंश रामचन्द्र को 'राम', कृष्णचन्द्र को 'कृष्ण', वेदव्यास को 'व्यास'। शिलालेखों और ताम्रपत्रों में 'बहुलपक्ष-दिवस' को ब. दि. (कृष्णपक्ष का दिन), शुक्लपक्षदिवस को शु. दि. लिखा जाता था। इससे ही हिन्दी 'बदी' 'सुदी' शब्द चले हैं। 'संयुक्त विधायक दल' को 'संविद', 'भारतीय क्रान्तिदल' को 'भाक्रांद या BKD'। इसीप्रकार 'मोटरकार' को 'कार', 'रेलवे ट्रेन' को 'रेलगाड़ी या रेल', डाक ले जाने वाली 'मेल ट्रेन' को 'मेल या डाक'। इसीप्रकार अँग्रेजी के शब्दों में भी संक्षेप मिलता है- ऑटो रिक्शा को 'ऑटो', बाइसिकिल (बाइ-दो, साइकिल-पहिए) को 'बाइक', 'माइक्रोफोन' को 'माइक', 'नेक-टार्ई' को 'टार्ई' आदि।

(20.) **सादृश्य (Analogy)-** सादृश्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर आ जाता है। 'प्रश्न' (प्रेम, 'प्रणयपश्रयौ समौ' अमर) का 'आश्रय' अर्थ में प्रयोग, अनुक्रोश (दया) का 'आक्रोश' (क्रोध, क्षोभ) अर्थ में प्रयोग, उत्क्रान्ति (मृत्यु, उछाल) का 'क्रान्ति' अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसका कारण सादृश्य है।

(21) **पुनरावृत्ति-अज्ञान** आदि के कारण एक ही अर्थ के लिए दो-दो शब्द चल पड़ते हैं। जैसे 'हिमालय' के लिए 'हिमाचल पर्वत', 'विन्ध्याचल' के लिए 'विन्ध्याचल पर्वत' (अचल का अर्थ भी पर्वत है)। 'मलय' ('मलय' का अर्थ पर्वत है) के लिए

‘मलय गिरि’। इसीप्रकार ‘सज्जन’ (जन=पुरुष) के लिए ‘सज्जन-पुरुष’, ‘दुर्जन’ के लिए ‘दुर्जन पुरुष’ प्रयोग है। पुर्तगाली में ‘पाव’ रोटी को कहते हैं, इसके लिए ‘पावरोटी’ (डबल रोटी) बोला जाता है।

(22) **प्रयोगाधिक्य-** कुछ शब्द बहुत अधिक प्रयोग के कारण अपना मूल महत्व-सूचक अर्थ खो देते हैं। जैसे- श्रीमान् (श्री-युक्त), श्रीयुत (श्री-संपन्न), महाजन (महान् व्यक्ति), महोदय (उन्नत व्यक्ति), महाशय (विशाल हृदयवाले), महात्मा (महान् आत्मा), साधु-साहु (सज्जन), बाबू (भद्र पुरुष), चौधरी (ठाकुर) आदि शब्द अत्यन्त व्यवहार के कारण अपना महत्व खो चुके हैं। इनका प्रयोग सर्व-साधारण के लिए होने लगा है। इसीप्रकार ‘बहुत’, ‘अधिक’, ‘अतिशय’, ‘अत्यन्त’, ‘उत्तम’ आदि शब्द भी घिसकर छोटे हो गए हैं।

(23) **जातीय मनोभाव-** जातीय या राष्ट्रीय दुर्भावना के कारण अच्छे शब्दों का बुरे अर्थों में प्रयोग होने लगता है। फारसी में ‘हिन्दू’ का अर्थ नीच, गुलाम, अपवित्र, काफिर है। ‘बुद्ध’ का ‘बुद्ध’ (मूर्ख), ‘लुंचित्केश (डिज सर, जैन) का तुका (अधम, नीच) ऐसे ही शब्द हैं। आर्यसमाजी जूते को ‘कुरान शरीफ’ और शौचालय को ‘पाकिस्तान’ कहते सुने गए हैं। इसीप्रकार मुसलमान हिन्दुओं को ‘काफिर’, शौचालय को ‘मन्दिर’ कहते पाए गए हैं।

(24) **साहचर्य-** साहचर्य के कारण शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। सिन्धु नदी के साहचर्य से ‘सिन्ध’ (प्रान्त का नाम)। स् को फारसी में ह होने से सिन्धु का ‘हिन्दु’ बना है। यह जातिवाचक हो गया। साहचर्य के कारण ही अंग, बंग, कलिंग, महाराष्ट्र, कम्बोज, पंचाल, द्रविड़ आदि शब्द देश के साथ ही देशज व्यक्ति के भी बोधक हैं।

4.5.0 अर्थिम, अर्थतत्त्व (Semanteme)

अर्थिम को अर्थतत्त्व भी कहते हैं। इसको अंग्रेजी में Semanteme (सीमेन्टीम) या Sememe (सेमीम) कहते हैं। ‘सार्थक सूक्ष्मतम इकाई को अर्थिम कहते हैं’। अर्थिम या अर्थतत्त्व का वर्णन पद विज्ञान में ‘पदिम’ (Morpheme) के प्रसंग में दिया जा चुका है।

अर्थिम और रूपिम रचना की दृष्टि से रूपिम (रूपग्राम) को दो भागों में बाँटा गया है (1) मुक्त रूपिम या मुक्त रूपग्राम (Free Morpheme) घर, पुस्तक, नगर आदि, (2) बद्ध रूपिम या बद्ध रूपग्राम (Bound Morpheme) से, ने, को, ता, ती, गा, गी आदि। इसी को अर्थ की दृष्टि से कहेंगे (1) मुक्त अर्थिम (Free Semanteme)-पुस्तक, घर, नगर, आदि, (2) बद्ध अर्थिम (Bound Semanteme)-प्रत्यय-सुप् (सु. औ आदि), तिङ् (ति, तः आदि), कृत् प्रत्यय (तृ. त. ति आदि), तद्धित प्रत्यय (त्व, ता, मत्, वत्, अ आदि), स्त्रीप्रत्यय (आ, ई आदि)। शुद्ध प्रातिपदिक, अंग, धातु या प्रकृति, जो स्वतन्त्ररूप से प्रयोग में आ सकते हैं, वे मुक्त अर्थिम या मुक्त अर्थतत्त्व या अर्थग्राम (Free Semanteme) हैं। जैसे राम, कृष्ण, उठ, बैठ, धन आदि। प्रत्यय आदि, जो शब्द या धातु से मिलकर ही प्रयुक्त होते हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं, वे बद्ध अर्थिम (Bound Semanteme) हैं।

अर्थ की दृष्टि से अंग (धातु, प्रातिपदिक, Stem, Root) को दो भागों में बाँटा गया है-(1) अर्थतत्त्व, अर्थदर्शी रूपग्राम (Semanteme) और (2) सम्बन्धतत्त्व या सम्बन्धदर्शी रूपग्राम (Functional morpheme)। इसको ही अर्थ की दृष्टि से कहेंगे (1) अर्थिम या अर्थतत्त्व (Semanteme)-राम, हरि, मनुष्य, पशु, पठ्, लिख, पढ़, लिख आदि। (2) सम्बन्धदर्शी या बद्ध अर्थिम (Bound Semanteme या Functional Semanteme)-प्रातिपदिक और धातुओं के अन्त में लगने वाले सभी प्रकार के प्रत्यय, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे- सुप्, तिङ्, कृत, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय आदि।

4.6 अभ्यास प्रश्न :

1. वाक्य का लक्षण बताते हुए उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा कीजिए।
2. वाक्य परिवर्तन की दिशाओं एवं कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. वाक्य विज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. अर्थ का लक्षण बताते हुए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को समझाइये।
5. अर्थ परिवर्तन की दिशाएं एवं कारणों का विशद् विवेचन कीजिए।



शास्त्रीय साहित्य का इतिहास

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 धर्मशास्त्र
- 5.3 वास्तुशास्त्र
- 5.4 ज्योतिषशास्त्र
- 5.5 अर्थशास्त्र
- 5.6 आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र)
- 5.7 अभ्यास प्रश्न

5.0 उद्देश्य :

1. शास्त्रीय साहित्य के इतिहास के माध्यम से भारतीय संस्कृति की जानकारी करना।
2. हमारी प्राचीन परम्पराओं के विषय में जानना।
3. प्राच्य विद्याओं के विषय में जानकारी प्राप्त करना।
4. हमारे ऐतिहासिक ग्रन्थों, ग्रन्थकारों एवं उनमें वर्णित विशिष्ट ज्ञान का अवगाहन करना।

5.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों इस इकाई में हम शास्त्रीय साहित्य के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। शास्त्रीय साहित्य कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्तम देन है। इनमें जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवों का पंजीभूत ऐसा रसात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है, जो समग्र सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि है। यद्यपि उसके बाह्य स्वरूप में देश-काल के भेद के साथ निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, तब भी उनके आन्तरिक मूल्य और स्वाभाविक गुण शाश्वत एवं चिरन्तन होते हैं। ये भारतीय संस्कृति के

परिचयात्मक रूप है ही साथ की हमारी विद्याओं के भी संरक्षक एवं संवर्धक भी है। यहां ऐसे ही कुछ शास्त्रीय साहित्यिक ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है-

5.2 धर्मशास्त्र :

प्राचीन भारत में मानव-जीवन की व्यवस्था के लिए 'कल्प' नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत धर्मसूत्र भी लिखे गये थे। लौकिक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ स्मृतियों, उनकी टीकाओं तथा संग्रह-ग्रन्थों के रूप में विकसित हुए हैं। इन्हीं से 'कर्मकाण्ड' का भी विकास हुआ, जो वैदिक गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों की सामग्री को रूपान्तरित करके बना है।

धर्मशास्त्र में प्राचीनतम 'मनुस्मृति' है, जो बहुत लोकप्रिय तथा प्रमाण रूप में रखा जाने वाला ग्रन्थ है। मनु को मानव-जाति का जनक कहा गया है, इसलिए मनु का धर्मशास्त्र मानवमात्र के लिए निर्मित प्रथम तथा शाश्वत धर्मों का विवेचन करता है किन्तु वर्तमान मनुस्मृति की रचना करने वाले तथा इसके काल के विषय में निश्चित मत नहीं है। संभव है इसे प्राचीनता और महत्ता देने के लिए 'मनु-रचित स्मृति' कहा गया हो। महाभारत में स्वयम्भुव मनु को धर्मशास्त्री तथा प्राचेतस मनु को अर्थशास्त्री कहा गया है। मनुस्मृति को आधुनिक रूप उस काल में मिला, जब ब्राह्मणों का वर्चस्व था। शुङ्गकाल या कण्वकाल में (200 ई. पू. से 50 ई. पू.) यह स्थिति थी। वैसे मनुस्मृति में सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था बनाने का लक्ष्य है, न किसी के प्रति राग है न द्वेष।

मनुस्मृति के वर्तमान पाठ में 12 अध्याय तथा 2694 श्लोक हैं। यह सरल, प्रवाहपूर्ण तथा पाणिनि-सम्मत भाषा में रचित है। इसमें (1) जगत् की उत्पत्ति, युग-कल्पना तथा धर्मशास्त्र की विषयवस्तु (2) धर्म का लक्षण, प्रारम्भिक संस्कार एवं ब्रह्मचारियों के कर्तव्य (3) समावर्तन, विवाह और उसके भेद, गृहस्थ जीवन की प्रशंसा (4) गृहस्थ की जीवनचर्या, स्नातक के आचार, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य (5) आशौच, पवित्रीकरण, पत्नी एवं विधवा के कर्तव्य, (6) वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम, (7) राजधर्म, राजा के गुण-दोष, मन्त्रिपरिषद्, दूत, युद्धनियम, सामादि चार उपाय, कर-ग्रहण, षड्गुण (सन्धि, यान आदि), विजयी राजा के कार्य (8) न्यायशासन, व्यवहार तथा उसके 18 भेद (9) पति-पत्नी के कर्तव्य, उत्तराधिकार, पुत्र के 12 भेद, स्त्रीधन, महापाप और

प्रायश्चित्त, राज्य के सात अंग, वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य (10) वर्णों तथा जातियों के कार्य, जीविकासाधन (11) दान की प्रशंसा, पूर्वजन्म के पाप से शरीर दोष, उपपातक तथा प्रायश्चित्त (12) कर्म, क्षेत्रज्ञ, जीव, नरक कष्ट, निःश्रेयस, आत्मज्ञान, प्रवृत्त-निवृत्त कर्म, शास्त्राध्ययन का फल- इतने विषय मुख्य रूप से हैं। मनुस्मृति पर मेधातिथि (825 ई.-900 ई.) तथा कुल्लूकभट्ट की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसका अंग्रेजी-हिन्दी में अनुवाद कई स्थानों से प्रकाशित है। मनुस्मृति का प्रथम मुद्रण कलकत्ता में 1813 ई. में हुआ था। बर्मा (म्यांमार), श्याम (थाइलैंड) तथा जावा (इंडोनेशिया) में भी मनुस्मृति पहुँची एवं वहाँ के विधानों पर इसका प्रभूत प्रभाव पड़ा।

धर्मशास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'याज्ञवल्क्यस्मृति' है, जिसका समय 200-300 ई. के मध्य माना जाता है। इसमें आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त नामक तीन अध्याय हैं। इसमें 1000 के आसपास श्लोक हैं (निर्णयसागर प्रेस श्लोक सं. 1010, त्रिवेन्द्रम श्लोक सं. 1003 तथा आनन्दाश्रम श्लोक सं. 1006)। प्रथमाध्याय में संस्कारों का विस्तृत विधान है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा राजा के कर्तव्यों का निरूपण, भक्ष्याभक्ष्य-विधान, मांस-प्रयोग-नियम तथा श्राद्ध का भी विवेचन है। द्वितीयाध्याय में न्यायशासन के वर्णन-क्रम में विवादों के निपटारे का विवेचन है, न्यायालय की सारी व्यवस्था वर्णित है। तृतीयाध्याय मृतक कर्म, आशौच, वानप्रस्थ धर्म, मोक्ष, आत्मज्ञान के साधन, प्रायश्चित्त द्वारा पापों के शोधन, नरक इत्यादि के वर्णन से भरा है। इस स्मृति की अनेक टीकाएँ हैं- विश्वरूप की बालक्रीडा (800-825 ई.), चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (षष्ठ) के सभा पण्डित विज्ञानेश्वर (1100 ई.) की मिताक्षरा तथा अपरार्क (1150 ई.) का धर्मशास्त्रनिबन्ध। इनमें मिताक्षरा विधिशास्त्र (Hindu Law) के विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सम्मानित है। इस पर बालभट्ट (18वीं शताब्दी) ने टीका लिखी थी।

'नारद-स्मृति' (100-300 ई.) व्यवहार अर्थात् न्यायशासन का ही विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। इसके लघु तथा बृहत् दो संस्करण हैं। डॉ. जॉली ने दोनों का सम्पादन किया है। इसमें 1028 श्लोक हैं, जिनमें प्रायः 700 पद्य परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं। इसके आरम्भ के तीन अध्याय व्यवहार-मातृका (भूमिका) के रूप में हैं, शेष 17 अध्याय ऋणादान, उपनिधि (बन्धक रखना), सम्भूयसमुत्थान (सहकारिता), दत्ताप्रदानिक (दान

का पुनर्ग्रहण) इत्यादि विवाद-विषयों पर हैं। मनुस्मृति के अष्टमाध्याय का ही यह बृहत्संस्करण है, जिसे थोड़ा ही परिवर्तन किया गया है। इस स्मृति पर असहाय ने टीका लिखी थी (750 ई. के पूर्व) किन्तु उसका आरम्भिक अंश ही मिला है।

स्मृतियों की संख्या 150 तक है, जिनके कई संग्रह प्रकाशित हैं—स्मृतिसन्दर्भ, स्मृतिचन्द्रिका, स्मृतिसंग्रह इत्यादि। इनमें कुछ स्मृतियाँ (पराशरस्मृति, बृहस्पतिस्मृति आदि) प्राचीन हैं। शेष पर क्षेत्र और काल का प्रभाव है। स्मृतियों पर अनेक छोटे-बड़े निबन्ध-ग्रन्थ समय-समय पर तात्कालिक आवश्यकता को देखकर लिखे गये। धर्मप्रधान भारतीय जनता के जीवन को व्यवस्थित करना तथा राजा को उचित परामर्श देना इन निबन्धों का उद्देश्य था। स्मृतियों के वैविध्य से जब लोग संशय में पड़ जाते थे तब इनसे ही निर्णय प्राप्त होता था। इनमें कुछ इस प्रकार हैं।

कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र (12वीं शताब्दी ई.) के मन्त्री लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु की रचना की, जिसमें स्मृतियों में प्रतिपादित सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया था। इस विशाल ग्रन्थ के कुछ अंश ही मिले हैं। इसका प्रभाव मिथिला, बंगाल तथा सामान्यतः पूरे उत्तर भारत पर था। आचार, व्यवहार तथा राजधर्म के अंश प्राप्त हैं। इसी शताब्दी (12वीं) में बंगाल के जीमूतवाहन ने श्रद्धर्मरत्न नामक महान् ग्रन्थ लिखा जो अपने तीन पृथक् प्रकाशित खण्डों के रूप में प्रसिद्ध है—कालविवेक, व्यवहारमातृका तथा दायभाग। शकालविवेक में धार्मिक कार्यों के समय, अधिकमास तथा अन्य सभी मासों के उत्सव-पर्व, दुर्गोत्सव इत्यादि का वर्णन है। व्यवहारमातृका स्पष्टतः न्यायशासन का ग्रन्थ है जिसमें न्यायालय के कार्य तथा विवादों के समाधान, दण्ड आदि का विधान है। श्रद्धाभाग श्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध है। उत्तराधिकार, सम्पत्ति का विभाजन, स्त्रीधन, पुनर्मेलन इत्यादि विषयों में इसका बंगाल में सर्वाधिक प्रभाव है। देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका भी इसी शताब्दी का दक्षिणभारतीय ग्रन्थ है। यह बड़ा ग्रन्थ है। इसमें संस्कार, दैनिक कृत्य (आहिक), व्यवहार, श्राद्ध तथा आशौच पर पृथक् पृथक् काण्ड हैं। इस नाम के कई ग्रन्थ धर्मशास्त्र के सन्दर्भ में हैं।

हेमाद्रि 13वीं शताब्दी के मध्यकाल में थे। उनकी एक विशाल कृति शचतुर्वर्गचिन्तामणि है जिसे धार्मिक कृत्यों का विश्वकोश कहा गया है (धर्मशास्त्र का

इतिहास, भाग-1, पृ0 83)। व्रत, दान, श्राद्ध, काल आदि इस ग्रन्थ के प्रकरण हैं। अपने पूर्ववर्ती लेखकों और ग्रन्थों का व्यापक उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। दक्षिण भारत में उनकी कृति का बहुत आदर था। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मिथिला के चण्डेश्वर ने श्मृतिरत्नाकर नामक ग्रन्थ सात अध्यायों में लिखा। प्रत्येक अध्याय तरंगों में विभक्त है। माधवाचार्य विजयनगर-राज्य के संस्थापक बुक्क के कुलगुरु और मन्त्री थे, वे 1377 ई. विद्यारण्य नाम से संन्यासधर्म में प्रव्रजित हुए थे। इन्होंने दो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे-कालमाधव (कालनिर्णय) तथा पराशरमाधवीय। प्रथम ग्रन्थ पाँच प्रकरणों का है-उपोद्घात, वत्सर, प्रतिपद्, द्वितीयादितिथि एवं प्रकीर्णक। यह व्रतों, उत्सवों की दृष्टि से उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उत्सव, व्रत, उपवास आदि का निर्णय इसमें किया गया है। द्वितीय ग्रन्थ पराशरस्मृति पर भाष्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र निबन्ध भी है।

राजा मदनपाल के आश्रित विश्वेश्वरभट्ट ने प्रायः 1360-90 ई. के बीच श्मदनपारिजात नामक ग्रन्थ नौ स्तवकों में लिखा जिनमें क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थधर्म, आह्निक कृत्य, संस्कार, जन्म-मरण पर आशौच, द्रव्यशुद्धि, श्राद्ध, दायभाग तथा प्रायश्चित्त का विवेचन है। मिथिला के विद्वान् वाचस्पति मिश्र (15 वीं शताब्दी के मध्य) ने चिन्तामणि नाम वाले 11 ग्रन्थ लिखे जैसे-आचारचिन्तामणि, शुद्धिचि0, कृत्यचि0, तीर्थ0, विवाद0, व्यवहार0 इत्यादि। बंगाल में गोविन्दानन्द (1500-1540 ई.) ने दानकौमुदी, शुद्धिकौमुदी, श्राद्धकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। वे मिदनापुर जनपद में बाग्री के निवासी वैष्णव थे। बंगाल के ही अन्तिम महान् धर्मशास्त्री रघुनन्दन थे जिनका श्मृतितत्त्वश्च विशाल ग्रन्थ है। इसका विभाजन 28 तत्त्वों में हुआ है। ये चौतन्य महाप्रभु के सहपाठी थे। इनका काल 1490-1570 ई. के बीच स्वीकृत है। वाराणसी भट्टकुल में 1513 ई. में जन्मे नारायणभट्ट ने धर्मशास्त्रविषयक तीन ग्रन्थ लिखे अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु (प्रयाग, काशी और गया से सम्बद्ध) तथा प्रयोगरत्न (संस्कारों का विवेचन)। कमलाकरभट्ट (17वीं शताब्दी ई. का प्रथम चरण) अनेक शास्त्रों के विद्वान् एवं लेखक थे। इन्होंने प्रायः 22 पुस्तकें विभिन्न शास्त्रों में लिखी जिनमें आधी धर्मशास्त्र में ही हैं। इनमें निर्णयसिन्धु की रचना 1612 ई. में हुई थी। शूद्रकमलाकर में शूद्रों के धार्मिक अधिकार पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। तीन परिच्छेदों में विभक्त श्मर्णयसिन्धु धर्म,

पर्वकाल आदि के विषय में उत्पन्न सन्देहों का समाधान प्रस्तुत करता है। नीलकण्ठभट्ट (रचनाकाल 1610-45 ई.) ने भी अनेक शास्त्रों में (विशेषतः मीमांसा और धर्मशास्त्र) ग्रन्थ लिखे। बुन्देल-सरदार भगवन्तदेव के सम्मान में श्भगवन्तभास्करश नामक ग्रन्थ की रचना इन्होंने की जो 12 मयूखों में विभक्त है-संस्कार, आचार, काल, श्राद्ध, व्यवहार दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, शुद्धि एवं शान्ति। इसके व्यवहारमयूख का संक्षिप्त संस्करण भी इन्होंने श्व्यवहारतत्त्वश नाम से किया। प्रायः इनके समकालिक विद्वान् मित्रमिश्र भी थे जिन्होंने अपने आश्रयदाता ओरछा नरेश वीरसिंह (राज्यकाल 1605-27 ई.) के सम्मान में विशालतम धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ श्वीरमित्रोदयश की रचना की। यह कई प्रकाशों में विभक्त है जैसे तीर्थप्रकाश, व्यवहारप्रकाश इत्यादि। एक-एक प्रकाश अपने विषय का महान् शोध-प्रबन्ध है। लक्षणप्रकाश में पुरुषों, स्त्रियों, अंगों, हाथियों, अश्वों, सिंहासनों, तलवारों तथा धनुषों के शुभ लक्षणों काय रानियों, मन्त्रियों, ज्योतिषियों, वैद्यों तथा द्वारपालों की विशिष्टता काय शालग्राम, शिवलिंग तथा रुद्राक्ष का विवेचन है। इसीसे वीरमित्रोदय की विशालता और महत्व का अनुमान हो सकता है। 17वीं शताब्दी ई. के तृतीय चरण में विद्यमान अनन्तदेव ने श्स्मृतिकौस्तुभश नामक एक दीर्घकाय ग्रन्थ लिखा जिसमें सात प्रकरण हैं-संस्कार, आचार, राजधर्म, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, तिथि एवं संवत्सर। इनमें संस्कारकौस्तुभ और राजधर्मकौस्तुभ महत्वपूर्ण हैं। इनका न्यायालयों में आदर है।

इस प्रकार धर्मशास्त्र का साहित्य बहुत बड़ा है। इसमें शोध के अनेक क्षेत्र हैं। इस साहित्य का भारतीय जीवन पर पुष्कल प्रभाव भी है। अतः इसका सामाजिक महत्व है।

5.3 वास्तुशास्त्र :

वास्तुविद्या प्राचीन भारतीय विद्याओं में परिगणित है। वेद में वास्तु के अधिदेवता वासतोष्पति का सूक्त उपलब्ध होता है, जिससे प्रमाणित होता है कि यह विद्या वैदिककाल में भी विद्यमान थी। वेद के सुप्रसिद्ध अंग ज्योतिष के उपांग के रूप में वास्तु को प्रतिष्ठापित किया गया था। वास्तु का अभिप्राय है- स्थान के आधार पर वस्तुओं का हितकारक उपयोग। ज्योतिषकाल के आधार पर कर्म के हितकारक उपयोग से

सम्बद्ध रहा है तथा ज्योतिष का उपांग होने से वास्तु का विषय ज्योतिष से भी संपृक्त हो गया है, अतः वास्तु में भी काल के विचार को महत्त्व दिया गया है।

वास्तु का क्षेत्र वस्तु-विस्तार के साथ व्यापक होता रहा है। वर्तमान में वैश्विकता के परिदृश्य में वास्तु का महत्त्व बढ़ा है। व्यापक दृष्टि से वास्तु के चिन्तन का मूल तत्त्व वास्तु ऊर्जा है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रभावित करती है। वास्तु को मानवीय कार्यक्षेत्रों के आधार पर विविध रूपों में देखा जा सकता है। वास्तु के निम्नांकित स्वरूप माने गये हैं-

(क) भवन-वास्तु : मनुष्य को आवास की आवश्यकता होती है तथा आवास प्राकृतिक दृष्टि से निरापद बना रहे, इस हेतु वास्तु ऊर्जा की सही स्थिति का आकलन करते हुए भवननिर्माण के विषय में विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रवर्तन वास्तुशास्त्र के विज्ञाता आचार्यों ने किया है। इसे भवन-वास्तु के नाम से जाना जाता है। भवनवास्तु में वर्गाकार एवं आयताकार भूखंडों का प्रावधान मिलता है तथा इनमें क्रमशः 64 पद एवं 81 पद वास्तु के नियमानुसार कक्षादि का व्यवस्थापन किया जाता है। वास्तुपुरुष की निर्वेधात्मक स्थिति पर ध्यान दिया जाता है तथा ब्रह्मस्थान को सुरक्षित रखा जाता है।

(ख) प्रासाद-वास्तु : राजा आदि शासकों के आवास, जो आवास के साथ साथ शासकीय व्यवस्था के संचालन के भी लक्ष्य की पूर्ति करते थे, उनके लिए वास्तु के पृथक् सिद्धान्तों का प्रतिष्ठापन प्रासाद-वास्तु के नाम से जाना जाता है। कालान्तर में प्रासाद-वास्तु के सहकारि रूप में दुर्गवास्तु का भी प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इसके नियमों में थोड़ा ही अन्तर है किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से विविध स्थानों का व्यवस्थापन भिन्न दिखायी देता है। प्रासाद-वास्तु में जनसामान्य एवं शासकीय आवास की भेदकता को दर्शाने हेतु असाधारण कलात्मकता को भी अपनाया जाता है।

(ग) मन्दिर-वास्तु : धार्मिक स्थलों के रूप में भारतीय संस्कृति में मन्दिरों का पर्याप्त महत्त्व रहा है। मन्दिरों में लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर मार्गों का व्यवस्थापन, उद्यानादि का व्यवस्थापन, मुख्यभाग, मूर्तियों के निर्माण एवं प्रतिष्ठापन, गुम्बज-शिखर आदि की संरचना सभी वास्तु के विषय हैं, जिनका अधिकाधिक सम्बन्ध शिल्प एवं स्थापत्य से भी है। वास्तुशास्त्र में इनसे सम्बन्धित विविध सिद्धान्तों का उल्लेख होता है तथा उन्हीं के आधार पर मन्दिर-वास्तु को अलग स्थान दिया गया है।

(घ) **नगर-वास्तु** : नगरनिर्माण कला को प्रतिष्ठापित करने वाले सिद्धान्तों के आधार पर नगर-वास्तु का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत नगरों के निर्माण में प्रत्येक स्थानों का दिक्साधन एवं परिमाण का निर्धारण तथा मार्गों का व्यवस्थान सर्वाधिक महत्त्व का विषय माना गया है। सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक लक्ष्यों की पूर्ति के निमित्त नगर-वास्तु में बस्तियों का विन्यास, बाजारों का विन्यास, मंदिरों का विन्यास आदि के आनुषंगिक विषय होते हैं। नगर- वास्तु में भी स्थापत्य एवं शिल्प का व्यापक उपयोग होता है।

(ङ) **शृंगारवास्तु** : इसे कलात्मक वास्तु भी कहते हैं। किस प्रकार किसी भवन, नगर या प्रासाद को आकर्षक बनाया जा सकता है, यह शृंगारवास्तु का विषय है। इसके साथ ही भवन, नगर या प्रासाद में दैनिक उपयोग की वस्तुओं का व्यवस्थापन भी शृंगार-वास्तु के अन्तर्गत ही प्राप्त होता है। शृंगार-वास्तु ने ही परवर्तिकाल में वास्तुशास्त्र को गौण बना दिया तथा उसका स्थान वास्तुकला ने लिया। वर्तमान में वास्तुशास्त्र की अनभिज्ञता के बढ़ने का मूल कारण केवल कलात्मकता के प्रति अभिरूचि का संवर्धन ही है किन्तु वास्तु-सिद्धान्तों की उपेक्षा अनुचित है।

(च) **वाणिज्यवास्तु** : आधुनिकता के संवर्धन के साथ साथ आर्थिक लक्ष्य की सम्पूर्ति हेतु धनार्जन-कार्य के लिए जाने वाले स्थानों जैसे- दुकान, मॉल, शोरूम आदि में वस्तुओं के व्यवस्थापन एवं स्थानादि के औचित्य का चिन्तन करके वास्तुविज्ञों ने वाणिज्यवास्तु का भी प्रवर्तन किया है। वर्तमान में वाणिज्यवास्तु भी वास्तु की लोकप्रिय विधा है। वाणिज्यवास्तु में भी शृंगारवास्तु का उपयोग किया जाने लगा है। दोषाहार की दृष्टि से दिक्साधन एवं वस्तु व्यवस्थापन को महत्त्व दिया जाता है।

वास्तुशास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं, जिनमें महर्षि अगस्त्य, कश्यप, नारद, पराशर, विश्वकर्मा आदि प्राचीन उल्लेखनीय आचार्य हैं। पिशुन, मय, सनत्कुमार, सिद्धार्थ, अपराजित भोज आदि मध्यकालीन आचार्य हैं। आधुनिक आचार्यों की परम्परा में उड़ीसा के स्थापक निरंजन महापात्र उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर सके हैं। जैन आचार्यों में दत्तसूरि, वसुबिन्दु, वसुनन्दि, आशाधर, ठक्कुर फेरू, सूत्रधार वीरपाल, नाथ, जिनप्रभ सूरि आदि उल्लेखनीय वास्तुविज्ञ रहे हैं। सभी आचार्यों के वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं किन्तु अत्यल्प

प्रकाशित हुए हैं। वर्तमान में विश्वकर्मा के नाम से वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें 'विश्वकर्मप्रकाश' प्रसिद्ध है। मय का मयमतम्, भोज का समरांगणसूत्रधार, अपराजित का अपराजित पृच्छा श्रेष्ठतम ग्रन्थ है।

5.4 ज्योतिषशास्त्र :

वैदिक युग में जो ज्योतिषशास्त्र यज्ञ के काल अर्थात् शुभ मुहूर्त के ज्ञान के लिए उद्भूत हुआ था, वह आगे चलकर सिद्धान्त, फलित और गणित इन तीन भागों में विकसित हुआ। 'सिद्धान्त' शुद्ध ज्योतिष है, जिसमें आकाशीय पिण्डों की गति-स्थिति का अध्ययन किया जाता है। वैदिक युग से लेकर वराहमिहिर तक सिद्धान्तों का विकास होता रहा, खगोल-विद्या-विषयक अनेक मत प्रचलित हुए। इस क्रम में ग्रहों का संचार, काल की गणना (वर्ष, मास, पक्ष, वार, तिथि आदि), सूर्योदय-सूर्यास्त का निरूपण, नक्षत्रों की गतिविधि इत्यादि पर विचार हुआ। वराहमिहिर (480-560 ई.) ने अपने ग्रन्थ 'पंचसिद्धान्तिका' में पाँच सिद्धान्तों का सार दिया है। ये हैं- पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर तथा पैतामह। वराहमिहिर के अनुसार प्रथम दो के व्याख्याता लाटदेव हैं, ये दोनों स्पष्ट सिद्धान्त हैं। सौर (सूर्य) सिद्धान्त सबसे अधिक स्पष्ट है किन्तु शेष दोनों सिद्धान्त भ्रष्ट हैं।

'वेदाङ्गज्योतिष' (लगधकृत) के अनन्तर 'सूर्यसिद्धान्त' के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ ही ज्योतिष का प्रथम ग्रन्थ है। इसका संशोधन कई बार हुआ था। स्वयं वराहमिहिर ने आर्यभट्ट के आधार पर इसका संशोधन किया था। 'पंचसिद्धान्तिका' में प्रतिपादित सूर्यसिद्धान्त से प्रस्तुत ग्रन्थ में अधिक भेद नहीं है। कहा जाता है कि मूल ग्रन्थ 400 ई. के आसपास लिखा गया था। इसमें वर्ष का मान 365 दिन 6 घण्टे 12 मिनट तथा 36.56 सेकंड दिया गया है, यह शुद्धता के बहुत निकट है। वर्तमान 'सूर्यसिद्धान्त' 14 अध्यायों का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमें आकाशीय पिण्डों की स्थिति को जानने के लिए नियम दिये गये हैं। श्लोकों की संख्या 500 है, जो क्रमशः बढ़ती हुई भाष्यकार रंगनाथ (1603 ई.) के समय तक स्थिर हो गयी थी।

आर्यभट्ट (जन्म 476 ई., पाटलिपुत्र) ने 23 वर्ष की आयु में (499 ई.) 'आर्यभटीय' नामक ग्रन्थ 10 आर्याछन्दों में लिखा था। इसमें ग्रहों की गणना के लिए

‘कलिसंवत्’ (499 ई. में 3600 क.सं.) को निश्चित किया गया है। इनके अन्य ग्रन्थ आर्याष्टाशतक में 121 श्लोक हैं, जो चार पादों में विभक्त हैं—गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलपाद। आर्यभट ने सूर्य को स्थिर तथा पृथ्वी को चलायमान माना है (गोलपाद, श्लोक 9)। ग्रहण पृथ्वी की छाया के कारण होते हैं। पृथ्वी के अपनी धुरी पर चलने से ही आकाशीय पिण्डों के दैनिक परिचालन के दृश्य उपस्थित होते हैं। संख्याओं के लिए आर्यभट ने अक्षरों का भी प्रयोग किया। गणित और सिद्धान्त दोनों का यह संयुक्त ग्रन्थ है। इस पर चार टीकाएँ हैं। फ्रेंच, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी इसके अनुवाद कई स्थानों से प्रकाशित हैं।

वराहमिहिर अवन्तिपुरी के निवासी थे। इनका जन्म 480 ई. में अनुमानतः कहा जाता है क्योंकि अपनी ‘पंचसिद्धान्तिका’ में इन्होंने गणितारम्भ का वर्ष 505 ई. (427 शकाब्द) कहा है। सूर्य को प्रसन्न करके, इन्होंने समस्त ज्ञान पाया था। इनके अनेक ग्रन्थ हैं— पंचसिद्धान्तिका (सिद्धान्तग्रन्थ), बृहत्संहिता (सिद्धान्त तथा फलित), विवाहपटल (मुहूर्त विषयक, बृहत् और स्वल्प दो संस्करण), योगयात्रा (राजाओं की यात्रा में शकुन), बृहज्जातक तथा लघुजातक (दोनों जन्मकुण्डली विषयक)। इस प्रकार इनकी कृतियाँ ज्योतिष के विविध पक्षों को उजागर करने वाली हैं। वराहमिहिर की ‘बृहत्संहिता’ 106 अध्यायों का विशालग्रन्थ है। इसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों की गतियाँ एवं ग्रहण आदि का पृथ्वी तथा मानव पर प्रभाव, वर्षफल (गोचर), ऋतु के लक्षण, कृषि-उत्पादन, वस्तुओं के मूल्य, वास्तुविद्या में ज्योतिष का महत्त्व इत्यादि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। सिद्धान्तज्योतिष और फलितज्योतिष का यह संयुक्त ग्रन्थ है। भारतीय भूगोल का भी इसमें निरूपण है। इस ग्रन्थ पर भट्टोत्पल ने 966 ई. में टीका लिखी थी।

ब्रह्मगुप्त (जन्म 598 ई., मुल्तान के भिल्लमल्ल ग्राम में) अपने युग के बहुत बड़े ज्योतिर्विद् थे। भास्कराचार्य ने इन्हें ‘गणकचक्रचूडामणि’ कहा था। इन्होंने 628 ई. में ब्राह्मसिद्धान्त या ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त नामक ग्रन्थ तथा 665 ई. में दूसरे ग्रन्थ खण्डखाद्यक की रचना की थी। प्रथम ग्रन्थ में 24 अध्याय अधिकारसंज्ञक (जैसे—मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार) या अध्यायसंज्ञक (जैसे—गणिताध्याय, यन्त्राध्याय) हैं। गोलाध्याय में भूगोल एवं खगोल-सम्बन्धी गणना है। खण्डखाद्यक आर्यभट के सिद्धान्तों

का अनुकरण है। इसमें दस अध्याय हैं। दोनों शुद्ध सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं। आर्यभट (द्वितीय, 950 ई.), मुंजाल (940 ई.), पृथूदकस्वामी (10 वीं शताब्दी), श्रीपति (1040 ई., दस ग्रन्थों के लेखक), शतानन्द (11 वीं शताब्दी)– ये भी ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक थे।

भास्कराचार्य (द्वितीय) की ख्याति बहुत अधिक है। इनका जन्मकाल 1114 ई. है, 36 वर्ष की आयु में इन्होंने 'सिद्धान्तशिरोमणि' तथा 70 वर्ष की आयु में 'करणकुतूहल' नामक ग्रन्थ लिखे थे। इनके अतिरिक्त भी इनके दो ग्रन्थ हैं– लीलावती तथा बीजगणित। 15 अध्यायों का 'सिद्धान्तशिरोमणि' खगोल विद्या (Astronomy) का सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है, जिसके यन्त्राध्याय में विविध यन्त्रों का वर्णन आकाशीय निरीक्षण के लिए किया गया है। इसपर अनेक टीकाएँ हैं। ज्योतिष के अध्ययन में विगत सात सौ वर्षों से इसका सर्वोपरि महत्त्व है। 'लीलावती' 13 अध्यायों में अंकगणित और रेखागणित (क्षेत्रमिति सहित) का ग्रन्थ है। इसकी रचना अपनी पुत्री के नाम पर भास्कराचार्य ने की थी। गणेश दैवज्ञ का 'ग्रहलाघव' (15वीं-16वीं शताब्दी), नीलकण्ठ की 'ताजिकनीलकण्ठी' (1587 ई.), रामदैवज्ञ की 'मुहूर्तचिन्तामणि' (1600ई.) तथा कमलाकर (जन्म 1608 ई.) का 'सिद्धान्ततत्त्वविवेक' (1658 ई.) अपेक्षाकृत प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष का प्रचार जैनों में भी बहुत अधिक था, उनके ग्रन्थ भी इस शास्त्र की श्रीवृद्धि करते हैं। विदेशों के ज्योतिष का प्रवेश भारत में तथा भारतीय ज्योतिष का प्रभाव अरबी यूनानी ज्योतिष में बहुत पहले से मिलता है। आधुनिक युग में भी बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने अपने अध्यवसाय से इस प्राचीन विद्या की पताका बचा रखी है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फलित ज्योतिष से राजनीतिक लाभ उठाने वाले ज्योतिर्विदों के कारण इस विद्या का भविष्य अच्छा नहीं लगता। फिर भी इसके गणित भाग को संगणक (Computer) से जोड़ना शुभ लक्षण है। बापूदेव शास्त्री, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, वेंकटेश केतकर, बालगंगाधर तिलक तथा सुधाकर द्विवेदी 19वीं शताब्दी ई. के प्रसिद्ध गणितज्ञ ज्योतिषी थे। आज भी संस्कृत महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में सिद्धान्त, फलित तथा गणित तीनों अङ्गों का अध्ययन-अध्यापन होता है।

5.5 अर्थशास्त्र :

यद्यपि धर्मशास्त्र की विषयवस्तु में भी राजा के धर्म के अन्तर्गत अर्थशास्त्र या राजशास्त्र का अनुशीलन होता रहा है तथापि इसमें प्रतिपाद्य विषयों के सम्यक् विवेचन के लिए एक पृथक् शास्त्र की आवश्यकता हुई। इसे अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, राजनीति या दण्डनीति भी कहा गया। सम्भवतः धर्मशास्त्र के अन्तर्गत गौण स्थान होने के कारण इसे प्रधानता-प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र बनना पड़ा। धर्मशास्त्र आदर्श को लेकर चलता है जबकि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध लाभ से है। धर्म का उपयोग राजा के हित में जहाँ तक हो सके, वहीं तक यह शास्त्र धर्मशास्त्र से सम्बद्ध है। 'अर्थशास्त्र' का निर्वचन करते हुए कौटिल्य ने कहा है- “मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रमिति (अर्थशास्त्र 15/1)” अर्थात् 'अर्थ' शब्द मानवों की गतिविधि या मानव युक्त पृथ्वी (राज्य) का बोधक है। उसे प्राप्त करने और पालन (रक्षा) करने के उपाय के रूप में जो नियम है, वही 'अर्थशास्त्र' है। यही बात कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम वाक्य में भी कही है- “पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् (अर्थशास्त्र 1/1)।” 'दण्डनीति' शब्द इस शास्त्र की कठोरता का निर्देशक है, वही 'राजशास्त्र' शब्द इसे बहुत व्यापक परिधि प्रदान करता है।

कौटिल्य को अर्थशास्त्र की महनीय परम्परा मिली थी, कई आचार्यों के नाम उन्होंने लिये हैं। महाभारत की राजशास्त्रीय सामग्री भी उन आचार्यों को सम्मान देती है, उनमें बृहस्पति के अर्थशास्त्र की चर्चा भास ने भी प्रतिमा नाटक में की है किन्तु नाट्य के क्षेत्र में मिले नाट्यशास्त्र के समान, राजशास्त्र में कौटिलीय अर्थशास्त्र का ही प्रथम ग्रन्थ के रूप में सम्मान है। 1909 ई. के पूर्व यह ग्रन्थ लुप्त माना जाता था किन्तु उस वर्ष डॉ. शामशास्त्री के द्वारा इसके प्रकाशन से संस्कृत जगत् चकित हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय विद्वान् जीवन के व्यावहारिक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं करते थे।

'अर्थशास्त्र' की रचना 300 ई. पू. में कौटिल्य के द्वारा की गयी थी। इसका विभाजन 15 अधिकरणों में हुआ है, पुनः ये अधिकरण 150 अध्यायों तथा 180 प्रकरणों

में विभक्त है। सामान्यतः यह गद्य में है, किन्तु कहीं-कहीं कुछ श्लोक भी हैं। श्लोकों की कुल संख्या 340 है। पूरा ग्रन्थ अपनी व्यवस्थित विषयवस्तु के कारण एक ही व्यक्ति का लिखा हुआ लगता है। यह प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है।

इसकी विषय वस्तु का संक्षिप्त रूप इसप्रकार है- (1) विनयाधिकारिक (21 अध्याय) नामक अधिकरण में राजा के अनुशासन, शास्त्र-शिक्षा, मन्त्रियों तथा पुरोहित के गुण, उनके प्रलोभन, गुप्तचर, सभा, राजदूत, राजकुमार, अन्तःपुर तथा राजा की सुरक्षा का विधान है। (2) अध्यक्षप्रचार (36 अध्याय) अधिकरण में विभिन्न शासन विभागों के अध्यक्षों के कर्तव्य आदि का वर्णन करते हुए ग्राम-रचना, गोचर भूमि, वन, दुर्ग आदि सन्निधाता के कर्तव्य, कर-ग्रहण, राज्य कोष, रत्न-परीक्षा, मुद्राध्यक्ष इत्यादि का भी आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से विवेचन किया गया है। (3) धर्मस्थानीय (20 अध्याय) अधिकरण में न्याय-शासन, विधि-नियम, विवाह-प्रकार, दम्पती के कर्तव्य, स्त्रीधन, पुत्रों के 12 भेद, दाय-विभाग तथा व्यवहार के विषयों (बिक्री, साहस, द्यूत आदि) का विवेचन है। (4) कण्टक-शोधन (13 अध्याय) अधिकरण में शिल्पियों तथा व्यापारियों की विपत्तियों से रक्षा, भ्रष्टाचारियों का दमन, विभिन्न अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था आदि का निरूपण है। (5) योगवृत्त (6 अध्याय) में उपांशुवध (चुपचाप हत्या करा देना), राज्यकोष-वृद्धि, कर्मचारियों का भरण-पोषण, राज्यसंकट का प्रतीकार आदि वर्णित है। (6) मण्डल-योनि (2 अध्याय) में मण्डल की रचना, राज्य के सात अंगों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और राज्य), अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा तीन शक्तियों (उत्साह, मन्त्र और प्रभुशक्ति) का वर्णन है। (7) षाड्गुण्य (18 अध्याय) में सन्धि, विग्रह, आसन, यान (आक्रमण), संश्रय और द्वैधीभाव के रूप में राजनीति के षड्गुणों का विचार किया गया है। सेना की कमी तथा आदेशातिक्रमण जैसे विषयों का भी इस अधिकरण में निरूपण है। (8) व्यसनाधिकारिक (5 अध्याय) में राजा पर मृगया, द्यूत, स्त्री-सेवन आदि दोषों के कारण आयी विपत्तियों का एवं राष्ट्र पर आये अन्य संकटों का भी वर्णन है। (9) अभियास्यत्कर्म (7 अध्याय) में आक्रमण की व्यवस्था तथा (10) सांग्रामिक (6 अध्याय) में वास्तविक युद्ध, ये दोनों अधिकरण युद्ध विषयक हैं। (11)

संघवृत्त (1 अध्याय) में विभिन्न व्यवसायों के संघों को वश में रखने, सामादि नीतियों के प्रयोग, संघ तोड़ने तथा उपांशुवध का वर्णन है। (12) आबलीयस (5 अध्याय) में दुर्बल राजा के द्वारा शक्ति बढ़ाने के उपाय, शक्तिशाली शत्रु के राज्य में दूत भेजना, गुप्तचरों का प्रयोग, सम्पत्तिनाश कराना, आपूर्ति का अवरोध इत्यादि का वर्णन है। ये सब कार्य दुर्बल राजा करते हैं। (13) दुर्गलम्भोपाय (5 अध्याय) में शत्रु के दुर्ग को अधिकृत करने के विविध उपायों का एवं विजित राज्य में शान्ति स्थापना का वर्णन है। (14) औपनिषदिक (रहस्यात्मक विषय, 4 अध्याय) में हत्या, अन्धीकरण, अपने को अदृश्य बनाना, अन्धकार में देखना, शत्रुवध के लिए मन्त्रौषधि का प्रयोग, इन प्रयोगों के प्रतीकार इत्यादि रहस्यपूर्ण विषयों का वर्णन है। (15) तन्त्रयुक्ति (1 अध्याय) में इस ग्रन्थ की विषयवस्तु तथा अर्थ-निर्णय के लिए सहायक युक्तियों का प्रतिपादन है। इस प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र व्यापक विषयों से परिपूर्ण है।

इस ग्रन्थ में बौद्धों की चर्चा केवल एक बार हुई है (शाक्याजीवकादीन् वृषलप्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्यो दण्डः 3/20) अर्थात् देवों और पितरों के सम्मान में यदि कोई बौद्ध, आजीवक या शूद्र संन्यासी को भोजन कराये तो उसे एक सौ पणों का दण्ड मिले। कौटिल्य को जड़ी-बूटियों का अद्भुत ज्ञान था। उन्होंने 'रसद' नामक पारदविष प्रयोक्ता की चर्चा की है। कौटिल्य को स्थापत्यकला का भी विशेष ज्ञान था। दुर्ग के बीच में शिव, वैश्रवण (कुबेर), अश्विन्-युगल, लक्ष्मी तथा दुर्गा के मन्दिरों की स्थापना की भी चर्चा उन्होंने की है। दुर्ग के मुख्य द्वारों के इष्टदेवताओं के रूप में ब्रह्मा, इन्द्र, यम तथा सेनापति (स्कन्द) का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र महाभारत आदि ग्रन्थों के समान राजधर्म का विवेचन नहीं करताय अपितु यहाँ शुद्ध राजनीति, कूटनीति और दण्डनीति है। इसकी भाषा-शैली प्राञ्जल तथा विषय की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है। राजा के सन्दर्भ में कहा गया है-

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ (अर्थशास्त्र, 1/19)

अर्थात् राजा का अपना सुख और लाभ नहीं हुआ करता, प्रजा का हित और सुख ही उसका अपना है।

स्वधर्म के प्रसंग में वर्णों तथा आश्रमों के कर्म कौटिल्य ने प्रथमाधिकरण के तृतीय अध्याय में सूत्र-रूप से स्पष्ट किये हैं। सभी के सामान्य धर्म पर भी दृष्टि रखी गयी है- सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयाऽऽनृशंस्यं क्षमा च। किन्तु यह सामान्य समाज के लिए है, राजनीति के लिए नहीं। त्रयी (वेदों) के द्वारा सब के स्वधर्म की व्यवस्था होती है, इससे संसार सुरक्षित रहता है-

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।

त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।(अर्थशास्त्र, 1/3)

अर्थशास्त्र की भाषा कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों के कारण दुरूह प्रतीत होती है किन्तु दूसरे सन्दर्भों से तथा कुछ दूर तक अन्तिम अधिकरण में दी गयी तन्त्र-युक्तियों (Rules of Interpretation) से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। यह वस्तुतः भारतीय राजशास्त्र का गौरव-ग्रन्थ है।

5.6 आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) :

अथर्ववेद के उपवेद के रूप में भारतवर्ष में आयुर्वेद का विकास हुआ (आयुर्वेदं नानोपाङ्गमथर्ववेदस्य, सुश्रुत सू. 1/60)। अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों में चिकित्सा के विविध पक्ष निर्दिष्ट हैं, वे सभी आयुर्वेद विज्ञान में विकसित हुए हैं। रोग-प्रतीकार के लिए भैषज्य का विधान, सुखप्रसव तथा उसकी विकृति में शल्यकर्म, व्रण की चिकित्सा, शिशु चिकित्सा इत्यादि अथर्ववेद में वर्णित हैं। सुश्रुत ने आयुर्वेद का निर्वचन किया है-“आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दति।” इस शास्त्र में रोग का प्रशमन तथा स्वास्थ्य-रक्षा, दोनों पक्षों पर बराबर ध्यान रखा गया है, तदनुकूल ही विवेचना की गयी है। परवर्ती परम्परा आयुर्वेद के आठ प्रतिपाद्य विषयों (अंगों) का निरूपण करती है। तदनुसार आयुर्वेद ‘अष्टांग’ कहलाता है। ये अंग हैं-शल्य (चीर-फाड़), शालाक्य (शलाका के प्रयोग से नेत्र, कान, नाक, सिर तथा मुख के रोगों की चिकित्सा), कायचिकित्सा (जठराग्नि अर्थात् पाचन से सम्बद्ध रोगों की चिकित्सा, संपूर्ण शरीर का आरोग्य निष्पादन), भूतविद्या (अदृश्य तत्त्वों के कारण होने वाले रोगों की झाड़ू-फूंक से चिकित्सा), कौमारभृत्य (शिशु का भरण-पोषण, चिकित्सा), अगदतन्त्र (विष की चिकित्सा), रसायनतन्त्र (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र-इन सातों शरीर

धातुओं को स्थिर रखने का विज्ञान) तथा वाजीकरण (पुरुष को शक्तिसम्पन्न बनाने वाले भैषजों का विज्ञान)। इससे आयुर्वेद की व्यापक विषयवस्तु का परिचय मिलता है। इन सभी अंगों के ग्रन्थ यहाँ विकसित हुए। आयुर्वेद में तीन ग्रन्थ महत्वपूर्ण माने गये हैं-चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता तथा वाग्भट के ग्रन्थ। इस सन्दर्भ में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है -

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः।

चरके चतुरो नैव स वैद्यः किं करिष्यति।

ये तीनों परवर्ती ग्रन्थों में पनपी कवित्व-परम्परा से अपेक्षाकृत मुक्त हैं।

चरकसंहिता : चरकसंहिता निश्चित रूप से आयुर्वेद का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसका वर्तमान स्वरूप शताब्दियों की प्रतिसंस्करण-प्रक्रिया का परिणाम है। इसमें आत्रेय, पुनर्वसु के मूल उपदेश हैं और यह उनके शिष्य अग्निवेश की रचना है, चरक का प्रतिसंस्कार है तथा दृढबल का परिवर्धन है। सौभाग्यवश इन आचार्यों के नाम परम्परा में सुरक्षित हैं अन्यथा 'महाभारत' की स्थिति होती। आत्रेय के छह शिष्यों में अग्निवेश अन्यतम थे। अन्य शिष्य भेल की कृति 'भेलसंहिता' भी कलकत्ता से प्रकाशित है। आत्रेय तथा अग्निवेश का काल पाँचवीं शताब्दी ई.पू० है। चरक ने अवश्य ही इस ग्रन्थ का सम्यक् परिवर्धन-परिमार्जन किया होगा, जिससे यह ग्रन्थ उनके नाम से चल पड़ा। पतंजलि से इनका अभेद परवर्ती लेखकों ने माना है किन्तु यह प्रमाणसिद्ध नहीं है। चीनी परम्परा में चरक नामक वैद्य को कनिष्क के समकालिक माना गया है। चरक नागार्जुन (रसायनशास्त्री, द्वितीय शताब्दी ई.) से पहले हैं, अतः इनका काल प्रथम शताब्दी ई. में हो सकता है। दृढबल चतुर्थ शताब्दी ई. में वर्तमान थे। चिकित्सास्थान के 17 अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान-ये दृढबल द्वारा जोड़े गये। ये अंश पुरानी चरकसंहिता में नहीं थे।

चरकसंहिता में 8 स्थान और 120 अध्याय हैं। स्थानों के इसप्रकार नाम हैं- 1. सूत्रस्थान (शास्त्र की भूमिका, खान-पान की विधि, 30 अध्याय) 2. निदानस्थान (8 अध्याय) 3. विमानस्थान (रोगविज्ञान तथा वैद्यक-शिक्षा, 8 अध्याय) 4. शारीरस्थान (शरीर रचनाविज्ञान, 8 अध्याय) 5. इन्द्रियस्थान (रोग का निदान एवं साध्यासाध्य-विचार, 12

अध्याय) 6.चिकित्सास्थान (विशेष चिकित्सा, 30 अध्याय) 7.कल्पस्थान 8.सिद्धिस्थान (दोनों में 12-12 अध्याय)। अन्तिम 41 अध्याय दृढबल के द्वारा लिखे गये हैं। इसमें स्वस्थ तथा रोगी (आतुर) दोनों के हित पर ध्यान रखा गया है। महाभारत के समान यहाँ भी विश्वकोशीय प्रतिज्ञा है -

चिकित्सा वह्निवेशस्य स्वस्थातुर-हितं प्रति।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

चरकसंहिता पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं। जैसे-भट्टारक हरिश्चन्द्रकृत चरकन्यास (400 ई.), जेज्जटकृत निरन्तर पदव्याख्या (8वीं श.), चक्रपाणिदत्त (1050-1100 ई.) की आयुर्वेद-दीपिका, वीरभूम निवासी), शिवदास सेन (15वीं शताब्दी) की तत्त्वचन्द्रिका। इस ग्रन्थ का हिन्दी तथा अंग्रेजी में भी रूपान्तर प्रकाशित है।

सुश्रुतसंहिता : यह ग्रन्थ भी बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। 1890 ई. में काशगर से प्राप्त आयुर्वेदिक हस्तलेख (चतुर्थ शताब्दी ई.) नवनीतक में भी सुश्रुत का उल्लेख है। चरक के समान इनकी कीर्ति भी विदेशों में प्राचीनकाल में ही फैल चुकी थी। नागार्जुन ने भी इनका उल्लेख किया है। अतः इनका भी काल प्रथम शताब्दी ई. में रखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में छह खण्ड हैं 1. सूत्रस्थान (46 अध्याय)- इसमें शल्यकर्म का वर्णन तथा यन्त्र और शस्त्र का प्रयोग बताया गया है। 2. निदानस्थान (16 अध्याय)- इस ग्रन्थ में शल्यचिकित्सा वाले रोगों का निदान वर्णित है। 3. शारीरस्थान (10 अध्याय)- इसमें शरीर-रचना का वर्णन है। 4. चिकित्सास्थान (40 अध्याय)- शल्यविषयक रोगों के प्रकार, स्वस्थवृत्त एवं सद्गुण का वर्णन। 5. कल्पस्थान (8 अध्याय)- विषचिकित्सा का वर्णन 6. उत्तरतन्त्र (66 अध्याय)- नेत्र, कर्ण, नासिका एवं सिर के रोगों, बालग्रह-शान्ति तथा कायरोगों की चिकित्सा। इस ग्रन्थ पर भी अनेक टीकाएँ हैं। जैसे-जेज्जट, गयदास, चक्रपाणि तथा डल्हण की टीकाएँ। इनमें डल्हणकृत निबन्धसंग्रह टीका प्रसिद्ध है, जो निर्णयसागर प्रेस से मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित है। डल्हण का समय 1200 ई. के निकट है। सुश्रुतसंहिता की ख्याति प्राचीन शल्य चिकित्सा की प्रस्तुति के कारण बहुत अधिक है।

अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय : वाग्भटकृत इन दोनों ग्रंथों में छह-छह स्थान हैं किन्तु अध्यायों की संख्या क्रमशः 150 तथा 120 हैं। अष्टाङ्गसंग्रह

गद्य-पद्य-युक्त रचना है। बारह हजार श्लोक होने से इसे 'द्वादशासाहसूत्री' भी कहते हैं। अष्टाङ्गहृदय 7444 पद्यों का ग्रन्थ है, यह बहुत लोकप्रिय है। इस पर 35 टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें हेमाद्रि और अरुणदत्त की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। वाग्भट का काल 500 ई. से 600 ई. के बीच माना जाता है। इत्सिंग ने इनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन दोनों ग्रन्थों में आयुर्वेद का सार प्रस्तुत है। अष्टाङ्गहृदय का तिब्बती (भोट) भाषा में अनुवाद हुआ था, यह बहुत लोकप्रिय रहा है।

प्रायः 6वीं या 7वीं शताब्दी ई. में माधवकर ने रोगों के निदान (लक्षण तथा मूलकारण) पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'रुग्निश्चय' है किन्तु माधवनिदान के नाम से विख्यात है। इसमें 79 रोगों का विवरण है। अरबी भाषा में इसका रूपान्तर 773 ई., हारुन-अल-रशीद के राज्यकाल में हो गया था। ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार के कारण इसपर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। चक्रपाणिदत्त(1060 ई.) का चिकित्सासारसंग्रह भी उपयोगी ग्रन्थ है। यह वृन्द के सिद्धियोग-नामक ग्रन्थ (आनन्दाश्रम, 1894 ई. में प्रकाशित) पर आश्रित है। वङ्गसेन ने 'चिकित्सासार' के नाम से एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा, जो माधव और सुश्रुत पर आश्रित है(12वीं शताब्दी ई.)। इसमें रस-भस्म-निर्माण की विधियाँ भी वर्णित हैं। भावमिश्र (16वीं शताब्दी ई.) का भावप्रकाश बहुत विस्तृत तथा बहुप्रचलित ग्रन्थ है। इसमें पूर्व, मध्य और उत्तर नाम के तीन खण्ड हैं। 17वीं-18वीं शताब्दी में वैद्यजीवन, आयुर्वेदप्रकाश, योगतरङ्गिणी तथा भैषज्यरत्नावली नामक ग्रन्थ रचे गये, जो बहुप्रचलित हैं।

आयुर्वेद के रसायन-विज्ञान पर रसरत्नाकर (नागार्जुनकृत, 7वीं शताब्दी ई.), रसहृदयतन्त्र (गोविन्दकृत, 10वीं शताब्दी), रसेन्द्रचूडामणि (सोमदेवकृत, 12वीं शताब्दी), रसप्रकाशसुधाकर (यशोधरकृत), रसार्णव (13वीं शताब्दी), रसराजलक्ष्मी (विष्णुदेवकृत, 14वीं शताब्दी), रसेन्द्रसारसंग्रह (गोपालभट्टकृत, 14वीं शताब्दी) इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं। वाग्भट का रसरत्नसमुच्चय (20 अध्याय) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कामशास्त्र : आयुर्वेद के वाजीकरण अध्याय में ही कामशास्त्र का संग्रह है। जीवन के चार लक्ष्यों में काम का ग्रहण होने से इसका विवेचन भारत के विद्वानों ने प्राचीन काल से ही किया था। नायिकाओं के हाव-भाव के वर्णन के लिए यह

काव्यशास्त्र की भी परिधि में प्रवेश करता है। इस विषय के 5-6 ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं, जिनमें वात्स्यायन का 'कामसूत्र' सबसे प्राचीन तथा प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल तृतीय शताब्दी ई. है।

कामसूत्र सात अधिकरणों, 14 प्रकरणों एवं 36 अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है, जिसमें गद्य-पद्य का मिश्रण है। पद्यों की संख्या 1250 है।

5.6 अभ्यास प्रश्न :

1. शास्त्रीय साहित्य से आप क्या समझते हैं?
2. धर्मशास्त्र से आप क्या समझते हैं? कुछ धर्मशास्त्रों का परिचय दीजिये।
3. ज्योतिषशास्त्र का परिचय दीजिये।
4. अर्थशास्त्र के वर्ण्यविषय पर प्रकाश डालिए।
5. आयुर्वेदशास्त्र में किस विषय की प्रधानता है? विस्तार से वर्णन कीजिये।



आधारभूत ग्रंथ :

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान प्रवेश, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली
2. डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा, भाषा विज्ञान की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
3. डॉ. केशवदत्त रूवाली, आधुनिक भाषा विज्ञान, श्री अलमोड़ा बुक डिपो, अलमोड़ा
4. डॉ. कपिल द्विवेदी, भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी